

श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम्

ईशादिसप्तोपनिषदः

(ईश-कठ-केन-मुण्डक-प्रश्न-तैत्तिरीय-ऐतरेयोपनिषदां संग्रहः

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करभाष्यसमेता



'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणीकार विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



सम्पादक

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए., एल-एल. बी. पी-एच. डी., व्याकरणाचार्य



श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति, ऋषिकेश

भूमिका

संसार के सभी धर्मावलम्बी अपने २ धर्मग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, तो फिर वेद को ही ईश्वरीय ज्ञान मानना उससे भिन्न ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान न मानना इसमें क्या विनिगमक हो सकता है ? उत्तर यह है कि इतिहास तथा आधुनिक अन्वेषण भी इस विषय में प्रमाण हैं। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर से लेकर वेद के सम्बन्ध में अन्वेषण करने वाले भारतीय श्री लोकमान्यतिलक पर्यन्त विद्वानों ने भी वेदों को सबसे पुराना ग्रन्थ माना है।

हमारे विचार से वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुष के बनाए हुए नहीं हैं —

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
(यजु० ३१।७)

RNSagar

(उसी सर्वज्ञ परमेश्वर से ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद उत्पन्न हुए) इस वेद मन्त्र में परमेश्वर से वेद की उत्पत्ति बतलाई गयी है; फिर भी सृष्टि के प्रारंभ में "धाता यथापूर्वमकल्पयत" के अनुसार पूर्वकल्पानुपूर्विक ही वर्णतः स्वरतः तथा मन्त्रतः भी वेदों का परमेश्वर से प्रादुर्भाव श्वास-निःश्वास की भाँति हुआ है। सामान्य व्यक्ति से लेकर ऋषि पर्यन्त किसी ने भी वेदों की रचना नहीं की है। शाखाओं के प्रवर्तक होने से कठशाखा इत्यादि नाम पड़ गए हैं; वे वेद कर्म, उपासना और ज्ञान ऐसे तीन भाग में विभक्त हैं। पहले के दो भागों में विहित कर्म और उपासना के अनुष्ठान से विशुद्धान्तःकरण वाले पुरुष केलिए ही ज्ञान का विधान किया गया है। इसी ज्ञानकाण्ड में प्रतिपादित विद्या को ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या कहते हैं। इसप्रकार उपनिषदों की 'प्रामाणिकता न केवल' वैदिक धर्मावलम्बियों की दृष्टि में है, अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनका महत्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, बहुत से निष्पक्ष विचारशील पाश्चात्य विद्वानों ने औपनिषद सिद्धान्त को अपने जीवन में आत्मसात् भी किया है। संहिता भाग मात्र को वेद मानने वाले व्यक्ति भी ईशावास्योपनिषद् की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं करेंगे; क्योंकि यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय रूप है। प्रथम मन्त्र के प्रतीक को लेकर ही इसका नाम ईशावास्योपनिषद् पड़ गया है।

इस समय उपलब्ध उपनिषदों में से प्रायशः ईशादि दश उपनिषदों पर आचार्यों का भाष्य मिलता है। अतः इनकी प्रामाणिकता में किञ्चित् सन्देह नहीं हो सकता। आचार्य भगवत्पाद भगवान् शंकराचार्य जी ने ईशावास्यादि दश उपनिषदों पर भाष्य लिखकर वेदान्तमार्ग को प्रशस्त बना दिया; जो अद्वैतवाद का प्रतिपादक श्रौतसिद्धान्त का अनुपम ग्रन्थ है। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने उस पर धूलि प्रक्षेप का असफल प्रयत्न किया है, तथापि निष्पक्ष विवेकशील व्यक्ति को अद्वैत ही श्रौत सिद्धान्त प्रतीत हुआ है और आज भी हो रहा है। श्रुतियों का ही समन्वय ब्रह्मसूत्र में है और तात्पर्यरूप श्रीमद्भगवद्गीता है। इसीलिए इन्हें प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं—इनके ऊपर प्रातः स्मरणीय आचार्यभगवत्पाद का शांकर भाष्य लोक विख्यात है। भाष्य का तात्पर्य अद्वैत वेदान्त आचार्य के मुख से अध्ययन कर के ही जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं। "संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्" इस वाक्य के अनुसार वेदान्त श्रवण और विचार के मुख्य अधिकारी चतुर्थाश्रमी यति ही माने गए हैं। "समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं" के अनुसार आचार्य मुख से ही वेदान्त श्रवण का आदेश श्रुति देती है। स्वातन्त्र्येण वेदान्त विचार से न केवल अपूर्व लाभ से वञ्चित होना पड़ेगा, अपितु तदर्थ ज्ञान में विपर्यय भी हो जाता है। अतः अद्वैत वेदान्त के आचार्यमुख से ही वेदान्त का श्रवण कर अनुशीलन से श्रुति एवं तद्भाष्य के रहस्यमय अर्थ को जान कर उसे अपने जीवन में आत्मसात् करना चाहिए।

शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा की ईशावास्योपनिषद् के ऊपर अन्य उपनिषदों की अपेक्षा सर्वाधिक भाष्य एवं टीकाएँ उपलब्ध हैं, सभी ने अपने विचारों को श्रुति सम्मत बनाने के लिए अथक परिश्रम किया है। हमने भी इसके अनेक भाष्य व टीकाएँ देखीं, किन्तु आचार्य भगवत्पाद विरचित शाङ्कर भाष्य ही समीचीन प्रतीत हुआ। अतएव इसके रहस्य को समझाने के लिये एक लघु प्रयत्न हमने किया है। इसकी सफलता के विषय में पाठक ही प्रमाण होंगे।

शांकर भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिए आनन्दगिरि टीका एक मात्र साधन है किन्तु संस्कृत में होने के कारण वह हिन्दी भाषा भाषियों के लिए उपयुक्त नहीं है अतः यह आवश्यक था, कि हिन्दी भाषा के माध्यम से उपनिषदों एवं उनके शाङ्करभाष्य का रहस्य उद्घाटन किया जाये। यद्यपि सम्प्रति कुछ उपनिषद् शाङ्करभाष्य के अनुवाद उपलब्ध भी हैं फिर भी हिन्दी भाषी पाठकों की ओर से सदा यह शिकायत रही, कि लोक विख्यात उपनिषद् शाङ्कर भाष्य का मर्म स्पर्शी कोई अनुवाद व टीका हिन्दी में ऐसी नहीं है, जिसके आधार पर उसका रहस्य समझा जावे, जैसे के तैसे शब्द रख देने से न हिन्दी भाषा भाषियों के लिए उपयुक्त हैं और न संस्कृत भाषाभाषियों के लिए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये शाङ्कर भाष्य की भाष्यार्थदीपिका नामक हिन्दी टीका हमने इस पर लिखी है। इसमें जो अच्छी बात है, वह गुरुजनों की है और जो त्रुटि है वह हमारी। यदि हमारा यह प्रयत्न उपनिषद् शाङ्करभाष्य को समझाने के लिये कुछ उपयुक्त सिद्ध हुआ, तो क्रमशः सभी उपनिषद् शाङ्कर भाष्य पर भाष्यार्थ-दीपिका लिखी जा सकेगी।

भारत के सुप्रसिद्ध ऋषिकेशस्थ कैलासआश्रम में विशुद्ध शाङ्करी परम्परा के अनुसार अद्यावधि अध्ययन अध्यापन हो रहे हैं। कैलासाश्रम के मनीषियों ने आनन्द गिरि टीकासहित प्रस्थानत्रयी शाङ्कर भाष्य पर गम्भीर चिन्तन के बाद टिप्पण लिख रखे हैं, जो ग्रन्थ लगाने में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसके बिना ग्रन्थ का लगना दुःशक्य है। कैलासाश्रम में आने पर सर्वप्रथम इस धरोहर की ओर हमारा ध्यान गया। अतः इस प्रकाशन में उसे भी सम्मिलित कर लिया गया। गोविन्द प्रसादिनी टिप्पणी, आनन्दगिरि टीका एवं भाष्यार्थ दीपिका के सहित ईशावास्योपनिषद् का यह संस्करण अपूर्व होगा। कैलासआश्रम शताब्दी समारोह उपलक्ष्य में कैलासाश्रम शताब्दी समारोह महासमिति ने अपनी अनेकधा माङ्गलिक प्रवृत्तियों में प्रकाशन कार्य का भी निश्चय किया है। एतदर्थ श्रीकैलास विद्या प्रेस की स्थापना की गयी। जिसमें इसका प्रकाशन हुआ है। गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी की प्रेस कापी करने में हमारे प्रिय श्री ब्र. विष्णु चैतन्य जी ने अथक परिश्रम किया है। शोध्यपत्र के संशोधन में श्री डा० उमेशानन्द जी शास्त्री, ब्र. रामानन्दजी शास्त्री तथा श्री स्वामी केशवानन्द सरस्वती जी का प्रयत्न श्लाघनीय है। ये सभी पुण्यात्मा भगवत्कृपा के पात्र हैं एवं हम इनकी मंगल कामना करते हैं।

अन्त में हम पाठकों से पुनर्निवेदन कर देना चाहते हैं कि अद्वैत वेदान्त के आकर ग्रन्थ उपनिषद् शाङ्कर भाष्य के तात्पर्य को बतलाने वाली उसकी भाष्यार्थ दीपिका तथा टिप्पणी का अनुशीलन कर यदि हमें आप इस सम्बन्ध में कुछ संकेत करेंगे, तो यथासम्भव इसके अग्रिम संस्करण में एवं विशेष रूप से अन्य उपनिषदों की भाष्यार्थ दीपिका में उसका परिमार्जन किया जायेगा। इत्यों शम्।

मिति अक्षयतृतीया वि० २०३५

भगवत्पादीय

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि

कैलास आश्रम मुनि की रेती

ऋषिकेश (उ० प्र०)

प्राक्कथन

भारत आज एक मोड़ पर खड़ा है एवं इसे निर्णय करना है कि प्राचीन ऋषिपूत संस्कृति के आधार पर नैतिक अर्हाओं का समन्वय करना है अथवा अर्वाचीन विदेशी संस्कृति के आधार पर। प्रश्न जटिल है, दुर्भाग्य से विदेशी ग्रन्थों की सुलभता आर्ष ग्रन्थों की दुर्लभता के समान ही है। शिक्षित समाज आर्ष दर्शनों को भी या तो विदेशी उपनेत्रों से देखता है और या वर्तमान अश्रद्धेय मान्यताओं में उसे प्रतिबद्ध करने का प्रयास करता है। यदि दैवतसंस्कृति का पुनः प्रतिस्थापन करना है तो इन दोनों दृष्टियों का परित्याग करके आर्ष दृष्टि समझनी व समझानी होगी। एतदर्थ अनुवाद आवश्यक है। स्वामी विद्यानन्दजी का प्रयास इसी दृष्टि से है।

भारतीय संस्कृति को समग्ररूपसे अवलोकन कर उसकी पाश्चात्य दर्शन व धर्म से तुलना हमें इस निश्चय पर पहुँचाती है, कि अद्वैत दर्शन से व्यतिरिक्त हमारी और कोई थाती नहीं है जो हमें उनसे भिन्न या उत्तम सिद्ध कर सके। अन्य सभी दर्शनों में तत्रत्य विचारक हमसे भी सूक्ष्मतर विचार कर पाते हैं, पर आत्मा के विषय में अभी तक वे अन्धकार में ही हैं एवं सांख्य प्रक्रिया तक भी पहुँच नहीं पाये हैं। यही कारण वहाँ के धर्म व दर्शन के विरोध का ही नहीं, धर्म एवं विज्ञान के भी विरोध का है। आचार्य शंकरभगवत्पाद ने हमारे सामने एक ऐसा धर्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है जो हमें सभी विरोधों के परिहार का शस्त्र देता है। इसका उपयोग अनाड़ियों ने सभी प्रकार की मान्यताओं व मजहबों की समानता सिद्ध करने में करके राष्ट्र व धर्म की हानि तो की ही है, शांकर सिद्धान्त को भी अश्रद्धेय बना दिया है। दूसरी तरफ जीवन से सर्वथा भिन्न करके अद्वैत दर्शन को उपहासास्पद बनाने का कार्य भी किया गया है। शंकरभगवत् के ग्रन्थों का अध्ययन इस कमी को पूरा करेगा।

भाष्यार्थदीपिका अनुवाद स्वतन्त्र है। अतः मूल के भावों को समझने मात्र में पर्यवसित न होकर व्याख्यता के मनन में प्रवेश देने में समर्थ है। यथा कर्मशेषत्व में तत्सम्बन्धी मीमांसा विचार अथवा पृ. ३५ पर कर्मसमुच्चय के विषय में भास्कर मत संग्रह पृ० ४५ पर पुरुषार्थमीमांसा आदि भी व्याख्याता के विचारों को समझने में मदद देती है।

हमें पूर्ण आशा है कि अब सभी उपनिषदों पर विद्वान् व्याख्याता के मननात्मक अनुवाद शीघ्र उपलब्ध होंगे, इनसे भारतीय संस्कृति की एक विशेष धारा का विकसित होना संभव हो पायेगा। विद्वान् व्याख्याता की हम सर्वप्रकारेण सफलता चाहते हैं।

निरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज
त्रिपुरसंहारोत्सव २०२५ वि०
संन्यास आश्रम देहली–६



शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीशाखानुसार-मीशावास्योपनिषन्मन्त्राणां पाठः ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ ईशा वास्यमिद꣡ꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत꣡ꣳ समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ता꣡ꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥६॥

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर꣡ꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या꣡ꣳरताः ॥९॥

अन्यदेवाऽऽहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय꣡ꣳ सह । विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥११॥

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया꣡ꣳ रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया । इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय꣡ꣳ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त꣡ꣳ शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृत꣡ꣳ स्मर ॥ १५ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ १७ ॥

ॐ खं ब्रह्म ॥१८॥

ॐ पूर्णमित्यादिशान्तिः ३ ॥

इति शुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीशाखान्तर्गता ईशावास्योपनिषद् । (शु. य. सं. अ. ४०) ।

ॐ

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादो विजयतेतराम्

ईशावास्योपनिषद्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्योपेता

ॐ [1]पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

[ॐ=वह (निरुपाधिक परब्रह्म) पूर्ण है, और यह (सोपाधिक कार्यब्रह्म भी) पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण आविर्भूत हुआ है । (तथा तत्त्व साक्षात्कार के समय एवं प्रलय काल में) पूर्ण (सोपाधिक कार्यब्रह्म) के पूर्णत्व को लेकर (अर्थात् अपने में लीन करके) पूर्ण (निरुपाधिक परब्रह्म) ही शेष बचा रहता है ॥ त्रिविध ताप की शान्ति होवे ।]

भाष्यार्थ दीपिका—यह शुक्ल यजुर्वेद का शान्तिपाठ है, इसमें शान्तिपाठ के व्याज से सम्पूर्ण वेद का तात्पर्य अद्वैतब्रह्म का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, साथ ही त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति की कामना भी दिखायी गयी है ।

"प्रणवः सर्ववेदेषु" (सम्पूर्ण वेदों में प्रणव ॐ मैं हूं) इस भगवद्गीता वाक्य के अनुसार प्रणव सम्पूर्ण वेदों का प्रतिपाद्य परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है । इस प्रणव ने अपने अर्थ गाम्भीर्य के कारण न केवल तीनों लोकों को अपनी तीनों मात्राओं से मापा है, अपितु लोकातीत-माया एवं उसके कार्य के अधिष्ठान-परमेश्वर को भी लक्षणा के द्वारा अमात्रपद से ज्ञापक होने के कारण उसे भी माप रखा है । अतः सम्पूर्ण वेद एवं उपनिषद् तथा विशेष रूप से माण्डूक्योपनिषद् इसी प्रणव की महिमा गा रहे हैं ।

---

१. विद्योत्पत्तावन्तरायविघातायादौ शान्तिमन्त्रं पठति ॐ पूर्णमद इत्यादिम् । अस्यार्थः अदस्तत्पदलक्ष्यं ब्रह्म, पूर्णमाकाशवद्व्यापि अपरिच्छिन्नमितियावत् । इदं च त्वंपदलक्ष्यं जीवस्वरूपमपि पूर्णम् । ननु द्वयोः पूर्णत्वं विरुद्धं वस्तुपरिच्छेदादित्यत आह पूर्णादित्यादि । पूर्णाद्ब्रह्मणः पूर्णमेव जीवस्वरूपमुदच्यत उद्रिच्यत उदेतीति यावत् । पूर्णस्य परिणामासंभवेन तत उत्पद्यमानस्यौपाधिकत्वमेव महाकाशादुद्गच्छतो घटाद्याकाशस्य तथा दर्शनात् । औपाधिकस्य च तदेव तथ्यं रूपं यतः स उदेतीति निदानाभेदात् पूर्णादुद्रिच्यमानं पूर्णमेवेति भावः । ननु जीवस्वरूपस्य पूर्णत्वे कुतस्तन्नानुभूयते तत्राह-पूर्णस्येत्यादि । 'पूर्णस्य यत्पूर्णं स्वरूपं तन्मात्रमादाय उपाध्यंशमपहायेति यावत् । पश्यत इति शेषः । पूर्णमेवावशिष्यते—पूर्णमेवस्वरूपमवभातीति यावत् । घटेनसहावलोक्यमानस्य नभसोऽपूर्णत्वभानेऽपि घटांशं विहायावलोकने पूर्णत्वस्यैवानुभवो यथेति भावः । त्रिःशान्तिरितिपठनन्त्वाध्यात्मिकादि त्रिविधोपद्रवशमनायेति ध्येयम् । आदौ च प्रणवघोषो वेदोच्चारणनियतो मङ्गलमातनोतीति विज्ञेयम् ।

जिसका विशेष विवेचन उन उपनिषदों की भाष्यार्थ दीपिका में यथा समय किया जायेगा। संक्षेपतः यहाँ पर इतना ही समझें, कि प्रणव अपनी तीनों मात्राओं के द्वारा शक्तिवृत्ति से कार्य ब्रह्म का और अमात्रपद से कारण-परब्रह्म का प्रतिपादन कर रहा है।

कार्यब्रह्म तथा कारण ब्रह्म भेद से परमेश्वर के दो रूप हैं। प्रत्यक्ष तथा तर्क एवं आगमादि प्रमाणों से प्रतीयमान जगत् परमात्मा के कार्यरूप हैं और केवल वेदान्तप्रमाणैकगम्य विशुद्ध-चैतन्य कारण ब्रह्मरूप है इसे सोपाधिक तथा निरुपाधिक भी कहते हैं। अविवेकियों को कारणब्रह्म सदा परोक्ष ही रहता है एवं तत्त्ववेत्ताओं को भी ब्रह्माकारवृति का विषय नहीं होता, किन्तु ब्रह्माकार वृत्ति का भी साक्षी ही रहता है। अतएव इस शान्तिपाठ में उसे परोक्ष अर्थ का वाचक "अदः" इस शब्द से कहा गया है। वह कारण ब्रह्म पूर्ण है, क्योंकि व्यापक होने से सभी देश में, नित्य होने से सभी काल में तथा आत्मरूप से सभी वस्तुओं में विद्यमान है।

यह दीखने वाला कार्य-जगत् भी पूर्ण ही है, क्योंकि तत्वतः यह भी ब्रह्मरूप ही है एवं उसी से प्रकट हुआ है। चैतन्यब्रह्म में, अध्यस्त प्रपञ्च में ब्रह्म की ही सत्ता, स्फूर्ति तथा प्रियत्व दीखता है। यदि प्रपञ्च में से इन तीनों को निकाल लिया जाय, तो प्रपञ्च का अस्तित्व नहीं रहेगा। वह असत् जड़ और दुःख रूप हो जायेगा और केवल पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा।

आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की शान्ति के लिए तीन बार शान्ति कहा गया है। प्रपञ्च अध्यस्त है, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। अध्यस्त पदार्थ की सत्ता अधिष्ठान के साक्षात् होने से पूर्व तक ही रहती है। भ्रमकाल में अधिष्ठान के सामान्य अंश के साथ ही अध्यस्त की प्रतीति होती है, उसके बिना नहीं। एवं अधिष्ठान के विशेष अंश को देखने के बाद वह अधिष्ठान ही शेष रह जाता है। अध्यस्त पदार्थ का तो अत्यन्ताभाव ही हो जाता है। इसी अधिष्ठान तथा अध्यस्तभाव (ब्रह्म एवं प्रपञ्च में अन्योन्याध्यास) को इस शान्ति पाठ से दिखलाया गया है। यही शाङ्कर वेदान्त का सिद्धान्त है और इसी की सूचना यहाँ से मिल रही है। अतः केवलाद्वैत शाङ्कर सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन इस वाक्य से किया गया है।

उप - नि पूर्वक सद् धातु से उपनिषद् शब्द बनता है। उप = समीप; नि = नितांत; सद् = नाश, गति और अवसादन अर्थ होता है। अर्थात् जिसके प्राप्त हो जाने पर अवश्यमेव अनादि अज्ञान का नाश, सर्वात्मा ब्रह्म की प्राप्ति तथा अविद्याजन्य-संसार दुःखों की शिथिलता हो जाती है, उसी को उपनिषद् कहते हैं। ऐशी वस्तु ब्रह्मज्ञान ही है। अतः ब्रह्मज्ञान को ही उपनिषद् कहते हैं। ब्रह्मज्ञान का प्रापक होने से ग्रन्थ को भी गौणीवृत्ति से उपनिषद् कह देते हैं। तभी तो "मैं उपनिषद् पढ़ता हूं" "उपनिषद पढ़ाता हूं" ऐसा लोक-व्यवहार होता है।

उपनिषद् संहिताभाग, आरण्यक-ब्राह्मण भाग दोनों में देखी जाती है। यह ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के काण्वशाखा तथा माध्यन्दिनीशाखा दोनों के ही चालीसवाँ अध्यायरूप है। इसमें शाखाभेद से कहीं २ पाठ-भेद भी है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य जी ने काण्वशाखा के ईशोपनिषद् पर भाष्य किया है। इसका नाम इसके प्रारंभिक मन्त्र के प्रथमपद को प्रतीक मानकर ही रखा गया है।

शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता भाग की होने के कारण अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इसका महत्व अधिक है। जो लोग संहिता भाग को ही वेद मानते हैं, ऐसे आर्यसमाज के विद्वज्जन भी इसे प्रमाणिक मानेंगे ही। अतएव इसके ऊपर अन्य उपनिषदों की अपेक्षा अधिक भाष्य तथा टीकायें लिखी गयीं हैं और आज भी लिखी जा रही हैं।

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्याऽऽत्मनो याथात्म्य-

येनाऽऽत्मना परेणेशा व्याप्तं विश्वमशेषतः । सोऽहं [2]देहद्वयीसाक्षी [3]वर्जितो देहतद्गुणैः ॥१॥

ईशा वास्यमित्यादिमन्त्रान्व्याचिख्यासुर्भगवान्भाष्यकारस्तेषां [4]कर्मशेषत्वशङ्कां तावद्व्युदस्यति । तथा हि [5]कर्मजडाः केचन मन्यन्ते स्म। ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मशेषा मन्त्रत्वाविशेषादिषे त्वादिमन्त्रवत् । अतः [6]पृथक्प्रयोजनाद्यभावादव्याख्येया इति तान्प्रत्याह—ईशा वास्यमित्यादय इति ।

वैदिक संहिता भाग के जितने भी मंत्र हैं उन मंत्रों के ऋषि, देवता और छन्द होते हैं, तथा कल्पसूत्रों में उन सभी मंत्रों का किसी न किसी कर्म में विनियोग बतलाया गया है । कर्म से सम्बन्ध न रखनेवाले वेदभाग प्रामाणिक नहीं माने जा सकते, क्योंकि "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इस जैमिनी सूत्र के अनुसार कर्म से सम्बन्ध रखनेवाले वेदभाग को ही सार्थक कहा गया है । तदनुसार ईशोपनिषद् में कहे गये मंत्रों का भी कर्म में विनियोग मानना चाहिए । साक्षात् विनियोजक प्रमाण न दीखने पर भी इन मंत्रों का जप में विनियोग अदृष्ट के लिये मानना चाहिए, अन्यथा इन मंत्रों में आनर्थक्य आ जायेगा । कर्म में दुराग्रह रखनेवाले कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है । उनका यह भी कहना है कि मंत्रत्व तो सभी मंत्रों में समान ही है । अतः अन्य मंत्रों की भाँति ईशावास्योपनिषद् के मंत्रों का भी कर्म में विनियोग होना ही चाहिए । ऐसी स्थिति में धर्मोपार्जन से भिन्न प्रयोजन न रहने के कारण इन मंत्रों की व्याख्या अनावश्यक है । ऐसे लोगों के प्रति 'ईशावास्यमित्यादयः' वाक्य से भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि—"ईशावास्यादि मंत्रों का कर्म में विनियोग नहीं है, क्योंकि जो कर्मों का शेष नहीं है, ऐसे आत्मा के यथार्थ-स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले ये मंत्र हैं ।" कर्मशेषत्व=अंगत्वबोधक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या ऐसे ६ प्रमाण हैं । जिनसे कर्मशेषत्व का बोध होता है । इनमें पूर्वपूर्व की अपेक्षा उत्तर २ दुर्बल होते हैं ।

'व्रीहिभिर्यजेत, दध्ना जुहोति' इत्यादि वाक्यों में तृतीया श्रुति से व्रीहि=धान्य में याग का शेषत्व तथा दधि में होम का शेषत्व अवगत हो रहा है । यहाँ पर यागादि क्रिया प्रधान हैं और व्रीहि इत्यादि उनके शेष=अंग है, ऐसा तृतीया श्रुति से जाना जा रहा है । एवं 'इषे त्वा' इस मंत्र को "इषे त्वेति शाखां छिनत्ति" इसे बोलकर पलाश शाखा का छेदन करे) अर्थात् पलाश शाखा छेदन

२. ईशेत्याद्युपनिषदि विद्याप्रकरणप्रतिपाद्यं तत्त्वमत्र परममङ्गलरूपं स्मरन्निबध्नाति-येनेति । आद्यमन्त्रोक्तस्येश आत्माभिन्नत्वं यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदित्यतोऽवगतमात्मनेशेति सामानाधिकरण्येनोक्तम् । तस्मिन्नपोमातरिश्वा दधातीत्यादिनाऽवगतस्य परत्वं परेणेत्युक्तम् । व्याप्तमित्यादिराद्यमन्त्रपूर्वार्धार्थस्यैव संक्षेपः । तस्यैव विवक्षितोऽर्थो येन व्याप्तं सोऽहमिति, अहमस्मि हि स्वयं सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमेतत्तत्त्वोपदेशश्छान्दोग्येतत्त्वमसीतिवदित्यर्थ इति । कविर्मनीषीत्युक्तं सर्वद्रष्टृत्वं देहद्वयीसाक्षीति संक्षिप्तम् । अकायमित्यादिप्रतिपाद्यं देहादिराहित्यं चतुर्थचरणेन संगृहीतमिति ज्ञेयम् । २. देहद्वयीति- निरावरणस्यैवात्र विवरणाधिकार इति ध्वनितुं द्वयीत्युक्तमन्यथा त्रयीत्यादिति ज्ञेयम् । कारणाभावेऽपि कार्यावस्थानं तु दण्डवियोगेऽपि (समवायिकारणनाशादि तार्किकानामप्युपगच्छतां समवायिकारणनाशेऽपि क्षणं कार्यावस्थितिवदिति वाऽनुरूपनिदर्शनोक्तिरिति ध्येयम्) किंचित्कालं चक्रभ्रमिवदविरुद्धं प्रकृतेप्रारब्धस्यैव वेगस्थानीयत्वात् । ३. ननु कार्यसत्त्वे कारणाभावोऽपि किंचित्करः इत्यत आह- वर्जित इति । वस्तुतस्तद्वर्जितस्यापि तत्साक्षित्वे स्वप्नद्रष्टा निदर्शयितव्य इति । ४. कर्मशेषत्वशङ्कामिति— कर्मानन्वयित्वेति यावत् । ५. कर्मजडाः=कर्मैवपुरुषार्थसाधनं नेतरदितिप्रबलदुराग्रहा इति यावत् । ६. पृथक्=कर्मकाण्डात्पृथगित्यर्थः । प्रयोजनादीत्यादिना शेषानुबन्धग्रहः । अव्याख्येया इति— नहि विशिष्टानुबन्धविधुरो ग्रन्थो व्याख्यानमर्हत्यफलत्वादिति भावः ।

प्रकाशकत्वात् । याथात्म्यं चाऽऽत्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि

कर्मस्वविनियुक्ता इति । इषे त्वेति शाखां छिनत्तीत्यादिवद्विनियो[1]जकप्रमाणादर्शनात्प्र[2]करणान्तरस्था-च्चेत्यर्थः । [3]श्रौतविनियोगाभावेऽपि बर्हिर्देवसदनं दामीत्यस्य बर्हिर्लवनप्रकाशन[4]सामर्थ्याद्बर्हिर्लवने यथा विनियोगस्तथा कर्मशेषात्मप्रकाशनसामर्थ्येन कर्मस्वेषां विनियोग इत्यपि नाऽऽशङ्कनीयमित्याह—तेषामिति । शुद्धादिविशेषणस्याऽऽत्मनः कर्मशेषत्वे [5]प्रमाणाभावात्तद्याथात्म्यं न केवलं कर्मानुपयोगि किंतु कर्मणा विरुध्यते चेत्याह—याथात्म्यं चेति । [6]शुद्धोऽहं स्वभावतो नाऽऽगन्तुकेनापि पाप्मना विद्धः

करते समय इस मन्त्र का विनियोग करना चाहिए । इस प्रकार विनियोग बतलानेवाला ब्राह्मण-वाक्य है । वैसे ही ईशादि मन्त्रों का अमुक कर्म में विनियोग करें, ऐसा विनियोजक कोई वाक्य दीखता नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि याग में पुरोडाश की आवश्यकता होती है, पुरोडाश के लिये दूध चाहिए। गोदोहन काल में वत्स अपाकरण (बछड़े को हटाना) पलाश दण्ड से किया जाता है । पलाश दण्ड के लिये पलाश काष्ठ का छेदन करते समय "इषे त्वा" इस मन्त्र को बोला जाता है । इसका विनियोजक वाक्य मिल जाता है । अतः "इषे त्वा" इत्यादि मन्त्र कर्म के शेष जैसे वाक्य प्रमाण से माने जाते हैं, वैसे ही किसी कर्म में आत्मा का विनियोजक वाक्य मिलता तो आत्मा भी कर्म का शेष माना जा सकता था । विनियोजक के अभाव में कर्म का शेष आत्मा को नहीं कहा जा सकता है ।

कर्म के प्रकरण में आत्मा के याथात्म्य का प्रतिपादक ईशादि मन्त्रों का पाठ भी नहीं है। ये मन्त्र भिन्न प्रकरण में पढ़े गये हैं, कर्म के प्रकरण में नहीं । यथा "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्गकामपुरुष दर्शपूर्णमासयाग से इष्ट की भावना करें) इस दर्शपूर्णमास याग में कथंभाव आकांक्षा होने पर उसके समीप में पढ़े गये "समिधो जयति" (समिद् याग से इष्ट की भवना करें) समिद् यागादि पञ्च प्रयाजों का प्रकरण प्रमाण से दर्शपूर्णमास में विनियोग माना जाता है क्योंकि 'फलवत्स-न्निधौ अफलं तदङ्गम्' (फलवान् के समीप में पढ़ा हुआ फलशून्य उसका अङ्ग माना जाता है) इस न्याय से दर्शपूर्णमास के अङ्ग प्रयाजादि हो जायेंगे । दर्शपूर्णमास में स्वर्गफल का श्रवण हो रहा है, किन्तु प्रयाज में किसी फल का श्रवण नहीं है और ये दर्शादि के निकट पढ़े गये हैं । अतः प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादि उसके अङ्ग हो जाते हैं । प्रकृत में ईशादि मन्त्रों द्वारा बतलाये गये आत्मविज्ञान से शोक मोह का सन्तरण रूप फल पृथक् सुना जाता है । अतः ईशादि मन्त्रों को फलशून्य नहीं कह सकते ।

कथञ्चित् श्रौतविनियोग के अभाव में भी लिङ्ग प्रमाण होने पर "बर्हिर्देवसदनं दामि" इस इस मन्त्र में बर्हिनामक तृण के छेदनरूप अर्थ का प्रकाशन इस मन्त्र से हो रहा है । अतः बर्हिच्छेदनरूप कर्म में इस मन्त्र का लिङ्गप्रमाण से विनियोग किया जाता है । वैसे यहांपर यदि आत्मा कर्म का शेष होता तो कर्मशेष आत्मा के प्रकाशक होने से इन मन्त्रों का कर्म में विनियोग हो सकता था । आत्मा शुद्ध है, पाप से सर्वथा विमुक्त है, एक है, नित्य है, शरीर रहित है तथा सर्वव्यापक है । इस प्रकार आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक होने से इन मंत्रों का कर्म में विनियोग होना तो दूर रहा, उल्टे आत्म ज्ञान से

१. विनियोजकेति–क्रियासंबन्धबोधकेत्यर्थः । २. प्रकरणान्तरस्थादिति--अकर्मप्रकरणस्थत्वादिति यावत् । अत्र इषेत्वे-त्यादिमन्त्रवदिति व्यतिरेक्युदाहरणमूह्यम् । अनेन च हेतुद्वयेन पूर्वानुमानस्य सत्प्रतिपक्षत्वमुक्तम् । विनियोजक प्रमाणवत्त्वं कर्मप्रकरणस्थत्वं चेत्युपाधिद्वयेन सोपाधिकत्वं वेति ध्येयम् । ३. श्रौतेति--निरपेक्षोरवः श्रुतिस्त-त्प्रतिपाद्येत्यर्थः । ४. सामर्थ्यादिति-- सामर्थ्यात्मिकलिङ्गप्रमाणादित्यर्थः । (अर्थप्रकाशनसामर्थ्यं हि लिङ्गम्)
५. प्रमाणाभावादिति-- अहंकर्तेत्यादि प्रतीतेरशुद्धात्मावगाहित्वादिति भावः । ६. शुद्धोऽहं स्वभावत इति-- आगन्तु-काशुद्ध्यभावस्यापापविद्धमित्यनेन लभ्यत्वाच्छुद्धमित्यत्र स्वाभाविकं शुद्धत्वं विवक्षितमिति भावः ।

[1]वक्ष्यमाणम् । तच्च कर्मणा विरुध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः । नह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृ भोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् । सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात् । गीतानां मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात् ।

[2]सर्वत्रैकोऽशरीर[3] आकाशोपम[4] इति जानन्न[5]कटाक्षेणापि कर्म वीक्षते । [6]किन्त्वापातप्रतिपत्तिरप्येतादृशी निरुणद्ध्येव कर्मप्रवृत्तिमित्यर्थः । किंच यः कर्मशेषः स उत्पाद्यो दृष्टो यथा [7]पुरोडाशादिः । [8]विकार्यः सोमादिः । [9]आप्यो मन्त्रादिः । [10]संस्कार्यो व्रीह्यादिस्तदुत्पाद्यादिरूपत्वं [11]व्यापकं व्यावर्तमानमात्मयाथात्म्यस्य [12]कर्मशेषत्वमपि व्यावर्तयति । तथाऽऽत्मयाथात्म्यं कर्तृ भोक्तृ च न भवति । येन ममेदं समीहितसाधनं ततो मया कर्तव्यमित्यहंकारान्वयपुरःसरः [13]कर्त्रन्वयः स्यादित्याह—नह्येवमिति । ननूपनिषदां [14]जपोपयोगित्वाद[15]न्यस्य च प्रमाणस्यादर्शनान्नास्त्येवैतादृशमात्मयाथात्म्यं तत्राऽऽह—सर्वासामिति ।

कर्म के अधिकार का उपमर्दन हो जाता है । आत्मा का शुद्धत्वादि यथार्थरूप कर्म से उत्पाद्य नहीं, विकार्य नहीं, प्राप्य एवं संस्कार्य भी नहीं है । किम्बहुना आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व भी नहीं है । यदि आत्मा कर्ता एवं भोक्ता होता तो किसी प्रकार कर्म का शेष आत्मा को कहा जा सकता था । जब आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही नहीं है तो फिर उसे कर्म का शेष (अङ्ग) कैसे कह सकते हैं ? और ऐसी दशा में कर्मों का अशेष आत्मा के प्रतिपादक ईशादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग भी कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है ।

मीमांसा शास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि शब्द का अर्थ तो वही होगा जिसे वह प्रतिपादन कर रहा है । इस नियम के अनुसार सभी उपनिषद्-वाक्य आत्मा के एकत्व प्रतिपादन में ही समाप्त हो जाते हैं । यथा 'ईशावास्यम्' इस वाक्य से प्रारम्भ करके 'स पर्यगाच्छुक्रम्, इस वाक्य से उपसंहार होने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ही प्रतिपादन उपक्रम उपसंहार से हो रहा है । 'अनेजदेकम्' 'तदन्तरस्य सर्वस्य' इन मंत्रों के द्वारा बार २ आत्म-याथात्म्य का ही प्रतिपादन सुना जाता है । 'नैनद्देवा आप्नुवन्' इस वाक्य से आत्मा में अलौकिकता बतलायी गयी है । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इस वाक्य से फल का कथन किया गया है । 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि, इस मंत्र से सौ वर्ष जीने की इच्छा वाले भेददर्शी अज्ञानियों के लिये लोकसिद्ध कर्मप्रवृत्ति का अनुवाद कर 'असूर्यानाम ते लोकाः' इस वाक्य से

१. वक्ष्यमाणमिति - सप्रर्यगादित्याद्यष्टममन्त्रे वक्ष्यत इत्यर्थः । २. कवित्वविशेषणभाष्ये तदुपपादकं नान्योऽतोऽस्ति-द्रष्टेति वक्ष्यते । तेन च सर्वशरीरावच्छिन्नस्यैकत्वं लभ्यते-तदाह सर्वत्रैकइति । ३. अकायमित्यादिवक्ष्यमाण-माह- अशरीर इति । ४. आकाशोपम इति सपर्यगादित्यस्यार्थः । ५. न कटाक्षेणापीति- न हि निष्पातकोऽना-दरेणापि प्रायश्चित्तं पश्यतीति प्रत्यक्षमेवेति भावः । ६. किन्त्वापातेत्यादिलोकेहि लिप्सितार्थस्यानायासेन प्राप्तिसन्देहेऽपि तदर्थमायासं कुर्वतां दर्शनात् सन्देहोऽप्रवर्तक इति भावः । ७. पुरोडाशादिरिति- मदन्तीजलेन सिद्धस्य पिष्टापिण्डस्य चतुर्थ्यन्त देवतानामपूर्वकत्वेतिपदान्तेन मन्त्रेणाभिमर्शनानन्तरं कूर्मवदाकारे कृते पुरोडा-शपदवाच्यता । भर्जनपत्र्यधिश्रयणकाले यज्जलपात्रमधिश्र (श्रि) तं भवति तत्रत्यं जलमप्शब्दविशेषण-त्वाद्बहुवचनान्तेन मदन्तीशब्देनोच्यत इति श्रौतपदार्थनिर्वचचने स्थितम् । तथा चोत्पाद्यः पुरोडाशोहवनीय-द्रव्यभेदः पिष्टमय इति लभ्यते । ८. विकार्य इति- कण्डनादि बिकारार्हः । ९. आप्य इति- गुरुमुखादध्य-यनेन प्राप्यः । १०. संस्कार्यः—प्रोक्षणादि संस्कारार्हः । ११. व्यापकमिति—यत्रकर्मशेषत्वं तत्रोत्पाद्याद्यन्यतमत्व-मिति व्याप्तिनिरूपकमित्यर्थः । १२. कर्मशेषत्वमपि व्यावर्तयतीति—व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य सर्वसंमत-त्वात् । न हि वह्न्यभावाधिकरण उत्पद्यमानं धूममवलोकयत्यभ्रान्तः कश्चिदिति । १३. कर्त्रन्वयः— कर्तृत्वेन कर्मसंबन्ध आत्मन इत्यर्थः । १४. जपोपेति— हुंफडादि निरर्थकशब्दवज्जपमात्रोपयोगित्वादित्यर्थः । १५. अन्यस्य—प्रत्यक्षादेरित्यर्थः ।

तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि ।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधि-

[1]यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति मीमांसाप्रसिद्धेः सर्वासामुपनिषदां [2]चैकात्म्ये तात्पर्यदर्शनान्न [3]जपोपयोगित्वमुपनिषदां शक्यं वक्तुम् । [4]तथाहि ईशा वास्यमित्यु[5]पक्रम्य स पर्यगाच्छुक्रमित्यु[6]पसंहारादनेजदेकं तदन्तरस्य सर्वस्येत्यभ्यासदर्शनान्नैनद्देवा आप्नुवन्नित्य[7]पूर्वतासंकीर्तनात्को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति [8]फलवत्तासंकीर्तनात्कुर्वन्नेवेहेति जिजीविषोर्भेददर्शिनः कर्मकरणानुवादेनासुर्या नाम त इति

निन्दा करते हुए आत्मैकत्व दर्शन की ही प्रशंसा की गयी है। एवं 'तस्मिन्नपो मातारिश्वा दधाति' इस मंत्र से युक्ति को भी उपस्थित किया है। इस प्रकार ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णायक उपक्रमादि छः लिङ्गों के द्वारा सभी उपनिषदों का आत्मैकत्व-दर्शन में ही तात्पर्य सुनिश्चित होता है।

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" इत्यादि गीता वाक्य एवं एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादि मोक्षशास्त्र भी आत्मैकत्व के ही प्रतिपादक हैं। यदि कहो कि इस प्रकार आत्मतत्व है, तब तो अधिकारी के अभाव में कर्मकाण्ड का ही उच्छेद हो जायेगा, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि आत्मा में नानात्व कर्तृत्व भोक्तृत्वादि, अशुद्धत्व तथा पापविद्धत्वादि लोकानुभवसिद्ध व्रत को लेकर ही कर्मों का विधान किया गया है। वस्तुतः अपरोक्ष आत्मयाथात्म्य ज्ञानवाले तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में जब सम्पूर्ण लोक का ही बाध हो जाता है तो तदन्तःपाती कर्मकाण्ड भी अप्रामाणिक है। क्या 'मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि' इस निषेध शास्त्र के अर्थ का निश्चय हो जाने पर श्येन-याग की विधि प्रमाणिक मानी जायेगी ? अर्थात् नहीं। वह तो तीव्र क्रोध से आक्रान्त अन्तःकरणवालों के लिये ही प्रामाणिक है। ठीक वैसे ही अनात्मा में आत्मबुद्धिवालों के लिये ही कर्मकाण्ड का विधान किया गया है। अतः कर्मकाण्ड का कोई अधिकारी ही न रहेगा, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि आचार्य जैमिनी ने कहा है कि, 'जो दृष्ट फल ब्रह्मवर्चस् इत्यादि को चाहता है, अथवा अदृष्ट फल स्वर्गादि को चाहता है, एवं मैं द्विजाति हूं, ऐसा मानता है और काणापन, लङ्गड़ापन इत्यादि अनधिकार के प्रयोजक धर्मवाला अपने को नहीं मानता, वही कर्म में अधिकारी माना जाता है।' ऐसा अधिकार शास्त्र के मर्म को जानने वाले लोक कहते हैं। अतः ईशावास्यादि मन्त्र आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक होने से आत्मा का आवरण करने वाले अनादिकालीन स्वाभाविक अज्ञान को निवृत्त करते हुए शोक, मोह इत्यादि संसार धर्म का नाशक आत्मैकत्व विज्ञान को उत्पन्न करते हैं। मीमांसा के षष्ठ अध्याय में फल कामना-युक्त व्यक्ति को कर्म का अधिकारी बतलाया गया है और फलकामना मिथ्याज्ञानमूलक है क्योंकि आकाश के समान

१. यत्परः—यत्तात्पर्यकः । २. ऐकात्म्येतात्पर्येति— निष्कर्षतया शुद्धत्वादिसकलविशेषणसंश्लेषकं लवत्वादेकम् आत्म्यमुदग्राहीत्यवधेयम् । ३. जपोपयोगित्वम् – अनर्थकत्वमभिधेयराहित्यमितियावत् । ४. उपक्रमोपसंहाराबभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये – इत्युक्तानि तात्पर्यग्राहकाणि लिङ्गानि दर्शयति— तथाहीत्यादिना । ५. इत्युपक्रम्येत्यनयोरैकात्म्यमिति मध्ये शेषनिवेशः । एवमित्युपसंहारादित्यत्रापि तथा शेषस्तस्यैवेति एवमग्रेऽपि । ६. इत्युपसंहारादिति - प्रकृतोपनिषदि सपर्यगादितिमन्त्रान्तमेव ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति तस्योपसंहारत्वोक्तिर्युक्ता । ७. अपूर्वतेति – इन्द्रियाद्यगोचरतेति यावत् । ८. फलवत्तेति – प्रकृतैकात्म्यज्ञानस्येत्यादिः ।

निन्दयैकात्म्यदर्शनस्य स्तुतत्वात्तस्मिन्नपो मातारिश्वा दधातीति [1]युक्त्यभिधानाच्चास्यास्तावदु[2]पनिषद ऐकात्म्यतात्पर्यं दृश्यते। एवमन्यासामप्युपनिषदामुपक्रमोपसंहारैकरूप्याभ्यासापूर्वताफलवत्तार्थवादयुदत्युपपादनानि षट् तात्पर्यलिङ्गानि [3]विकल्पेन समुच्चयेन चास्माभिस्तत्त्वालोके दर्शितानीति नेह प्रतन्यन्ते। किंच [4]प्रत्ययसंवादोऽपि [5]बलवत्त्वे कारणं प्रसिद्धम्। विद्यते चोपनिषदर्थे गीतादिसंवादस्तस्मादु[6]पनिषत्पदसमन्वयेनावगम्यमानमैकात्म्यं न प्रमाणान्तरानुपलम्भविरोधेनापलपनीयम्। [7]यथेन्द्रियान्तरेणानवगम्यमानमपि रूपं चक्षुषाऽवगम्यमानं नापह्नूयते तथैकात्म्यमपि नापह्नवार्हमित्याह—गीतानामिति। 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति' इत्यादिगीतानाम्। 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इत्यादिमोक्षशास्त्राणां चैकात्म्यपरत्वादित्यर्थः। यद्येतादृशमात्मतत्त्वं तर्हि निरधिकारित्वात्कर्मकाण्डमुच्छिद्येतेत्यपि नाऽऽशङ्कनीयमित्याह—तस्मादिति। औपनिषदात्मयाथात्म्यविज्ञानवत इष्यत एव [8]कर्मकाण्डाप्रामाण्यम्। यथा न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति निषेधशास्त्रार्थनिश्चयवत इष्यत एव श्येनादिविध्यप्रामाण्यम्। यथा च तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तं प्रत्येव श्येनादिविधिप्रामाण्यं तथा [9]मिथ्यात्मदर्शिनं प्रत्येव कर्मविधिप्रामाण्यमित्यर्थः। अत्र जैमिनिप्रभृतीनां संमतिमाह—यो हीत्यादिना। [10]अर्थित्वादियुक्तस्य कर्मण्यधिकारः षष्ठेऽध्याये प्रतिष्ठापितः। अर्थित्वादि च मिथ्याज्ञाननिदानम्। न हि नभोवन्निष्क्रियस्य स्वत एव दुःखासंसर्गिणः परमानन्दस्वभावस्य सुखं मे स्याद्दुःखं मे मा भूदित्यर्थित्वं शरीरेन्द्रियसामर्थ्येन च समर्थोऽहमित्यभिमानित्वं मिथ्याज्ञानं विना संभवतीत्यर्थः। यस्मादात्मयाथात्म्यप्रकाशका मन्त्रा न कर्मविधिशेषभूता न च मानान्तरविरुद्धास्तस्मात्प्रयोजनादिमत्त्वमपि तेषां सिद्धमित्याह—तस्मादेत इति।

निष्क्रिय, स्वभाव से दुःखसंसर्गशून्य परमानन्द स्वरूप आत्मा में मिथ्यज्ञान के बिना मुझे सुख मिले और दुःख कभी भी न हो, ऐसी कामना नहीं हो सकती। एवं शरीर तथा इन्द्रियों के सामर्थ्य से अपने को सशक्त माननारूप अभिमान भी मिथ्याज्ञान के बिना हो नहीं सकता। अतः कामना एवं मिथ्या अभिमान मूलक मिथ्याज्ञान को निवृत्त करने में आत्मैकत्वविज्ञान ही समर्थ है और ऐसा ज्ञान

---

१. युक्तीति— हिरण्यगर्भादेरपि नियतप्रवृत्यन्यथाऽनुपपत्तिरूपयुक्तीत्यर्थः। २. उपनिषद इति—अत्रत्य विद्याप्रकरणस्येति यावत्। ३. विकल्पेन समुच्चयेन चेति— क्वचिदेकद्वादि यथासंभवं क्वचित् षडपीत्यर्थः। क्वचित्प्रतिलिङ्गं वाक्यभेदः। क्वचिद्वाक्याभेदेन कतिपयलिङ्गसंग्रह इति वा। कासांचिद्भेदेन कासांचित्त्वतिदेशादिविषयैकयोक्त्येति वासंभावितोऽर्थस्तत्त्वं तु तत्त्वालोकादेवालोक्येतेत्यलम्। ४. प्रत्ययसंवादः—प्रमाणतौल्यं तुल्यप्रमाणमिति यावत्। ५. बलवत्त्वे—अन्यतरप्रत्ययस्येति शेषः। तव तावत्प्रत्ययो मन्त्राः कर्मशेषा इति, ममत्वशेषा इति, तत्र मदीयप्रत्ययस्य बलवत्त्वे इत्यर्थः। ६. उपनिषत्पदसमन्वयेनेति—उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः। निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मता। इत्युक्तार्थकोपनिषच्छब्दवाच्यत्वेनेति यावत्। सदेरन्तर्भावितण्यर्थत्वे। उप नितरां सादयति संसारहेतुभूतामविद्यां नाशयतीति। अन्यथोपात्मनः समीपे निषीदति प्रतिपादकत्वेनेति व्युत्पत्त्या आत्मयाथात्म्यप्रतिपादकतैवोपनिषच्छब्दितस्य लभ्यत इति भावः। ७. यथेन्द्रियान्तरेणेति—ननु विषमोऽयमुपन्यासो यावतेन्द्रियान्तरेण रूपं नावगम्यत इति यत् तत्कस्यहेतोः नतावद्रूपं नास्तीति, किं तर्हि तस्य तस्मिन्नयोग्यत्वादेव प्रकृते तु न तथा यतः कर्ताऽहं सुखी दुःखीत्येवमात्मनियोग्येनापि प्रत्यक्षादिना भवदुक्तयाथात्म्यस्यानवगाहनात्तदपलप्यमिति चेन्मैवं "यन्मनसा न मनुते" "तं त्वौपनिषदं पुरुषमित्यादि श्रुतेरिन्द्रियान्तरस्य रूप इवोपनिषदतिरिक्तमानस्यात्मन्ययोग्यत्वस्यैवसिद्धत्वात् कर्ताऽहमित्यादिप्रतीतौत्वध्यस्तात्मभावस्यान्तःकरणस्यैव कर्तृत्वादयो धर्माः स्वयंप्रकाशेन साक्षिणैव स्फोर्यन्त इति महता दीर्घेण विचारेण भाष्यकारादिभिरेव तत्रतत्रोपपादयिष्यत इत्यलम्। ८. अप्रामाण्यम्—अनादरस्तात्त्विकप्रामाण्याभाव इति यावत्। ९. मिथ्यात्मदर्शिनम्—कर्त्राद्यात्मदर्शिनम्। १०. अर्थित्वादियुक्तस्येति—अत्रवदन्ति—अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मतिमान् कर्मसूक्तोऽधिकारीत्यादिः।

हरिः ॐ । ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

जगत् में (अर्थात् तीनों लोकों में) जो कुछ जड़ चेतन संसार है वह सब ईश (पद लक्ष्य निरुपाधिक परब्रह्म) से आच्छादनीय है (इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिसे मिथ्या नाम-रूपात्मक जगत् का त्याग हो जाता है) उसी त्याग भाव से तू आत्मा का पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर। (जब ब्रह्मात्मदृष्टि से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् का बाध हो गया, तो भला! किसका धन है जिसकी आकांक्षा करे?) ॥१॥

कारविदो वदन्ति । तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनाऽऽत्मविषयं [1]स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति । इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसंबन्धप्रयोजनान्मन्त्रान संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ॥

व्याख्येयत्वमुक्त्वा प्रतिपदं व्याचष्टे–ईशेति । ईश ऐश्वर्येऽस्य धातोः क्विपि लप्ते कृदन्तरूपमीट्तस्य तृतीयैकवचनमीशेति । ननु [2]कर्तरि क्विब्विधानात्परमात्मनश्चाक्रियत्वात्कथं क्विबन्तशब्दवाच्यतेति तत्राऽऽह—ईशितेति । [3]मायोपाधेरीशनकर्तृत्वसंभवात्क्विबन्तशब्दवाच्यता न विरुध्यते [4]निरुपाधिकस्य च लक्ष्यत्वं भविष्यतीत्यर्थः । [5]ईशित्रीशितव्यभावेन तर्हि[6]भेदः प्राप्त इत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वजन्तूनामात्मा सन्निति । [7]यथाऽऽदर्शादिषु [8]प्रतिबिम्बानामात्मा सन्बिम्बभूतो देवदत्त [9]ईशिता भवति तथा

उपनिषदों से ही हो सकता है। इसलिये उपनिषदों को कर्मशेष अर्थ का प्रतिपादक किसी भी प्रकार नहीं मान सकते। साथ ही उपनिषदों का अधिकारी, विषय, प्रयोजन एवं सम्बन्धरूप अनुबन्ध-चतुष्टय भी भिन्न ही है, जिसे ईशादि मन्त्रों द्वारा बतलाया जायेगा। इन मन्त्रों की व्याख्या भगवत्पाद शङ्कराचार्य जी संक्षेप में करेंगे।

---

१. स्वाभाविकमिति—अनादिसिद्धमित्यर्थः । अज्ञानं निवर्तयन्त इत्यादि तथा च—आत्मैकत्वादिविज्ञानोत्पत्तिरज्ञाननिवृत्तिश्च मन्त्राणामवान्तरं प्रयोजनं शोकादिसंसारोच्छित्तिस्तु परमं, तल्लिप्सुरधिकारी आत्मयाथात्म्यमभिधेयं प्रतिपादकत्वादिस्तु संबन्ध इति भावः । २. कर्तरिक्विबिति—कर्तरिकृदित्यनुशासनादिति भावः । ३. मायिनंतु महेश्वरमिति श्रुतिमनुसंधाय परमेश्वरपदस्वारस्येनाह—मायोपाधेरिति—माया यस्योपाधिस्तस्य मायोपाधेः । ४. ननु याथात्म्यप्रतिपादकस्य मन्त्रस्य कुतः सोपाधिपरतेत्यत आह—निरुपाधिकस्य चेति । लक्ष्यस्यैव तात्पर्यविषयतेति भावः । ५. ईशित्रीशितव्यभावेनेति—ईशितव्य ईशितुर्भिद्यत ईशितव्यत्वाद्राजभिन्नप्रजादिवदित्यनुमानेनेति यावत् । ६. भेदः प्राप्त इति—तथा च गतमैकात्म्यपरत्वं मन्त्रस्येति भावः । ७. कथमेकस्मिन्नेवेशित्रीशितव्यभाव इत्याशंङ्कां दृष्टान्तेन शातयति—यथेति । ८. प्रतिबिम्बानामात्मासन्बिम्बभूतोदेवदत्तः ईशिता भवतीति—एतद्दृष्टान्तानुरोधान्मायोपहितस्येश्वरस्यैव प्रतिबिम्बो जीव इत्यवगन्तव्यम् । ननु मायोपहितस्य मायायामेव प्रतिबिम्बो भवेत् स च बिम्बमाययोरेकैकत्वादेक एव स्यान्नतु नाना, न चेष्टापत्तिरेवेति वक्तुं शक्यं, जीवानां नानात्वप्रतीतिविरोधाद्भाष्येऽपि सर्वजन्तूनामिति बहूक्तिविरोधाच्चेति चेन्नैवम् । एकएव हि मायाप्रतिबिम्बो जीवो मायोत्थनानान्तःकरणैरवच्छिद्यमानो नानात्वप्रतीतिभाग् भवति । भाष्येऽपि लोकसिद्धानुवाद एवेत्यनवद्यम् । यथैकस्मिन्नेव सुमहति काचफलके शिल्पिचातुर्येणकिञ्चिदुच्चपुष्पाकृतिनानावयवैरवकीर्णे एकधैव प्रतिफलन् सविताऽनेकधाभाति तद्वदिति दृष्टान्ते दृश्यः । प्रतिबिम्बानामात्मेति—वास्तवं रूपमित्यर्थः । नहि बिम्बापगमे प्रतिबिम्बमवस्थातुमीष्ट इति । ९. ईशितेति—प्रतिबिम्बानां बिम्बचेष्टाधीनचेष्टाकत्वादिति भावः ।

ईशा वास्यमित्यादि । ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया, तेन स्वेन रूपेणाऽऽत्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम् । किम् । इदं सर्वं यत्किंच यत्किंचिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनाऽऽत्मनेशेन [1]प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति [2]परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं[3] सर्वं चराचरमाच्छाद-

कल्पितभेदेनेशित्रीशितव्यभावसंभवाच्च वास्तवभेदानुमानं संभवतीत्यर्थः । वस आच्छादने । अस्य रूपं वास्यम् । तत्त्वत ईश्वरात्मकमेव सर्वं भ्रान्त्या यदनीश्वररूपेण गृहीतं तत्सर्वमीश्वर एवाऽऽत्मैवेति ज्ञानेनाऽऽच्छादनीयम् । सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमेष तत्त्वोपदेशश्छान्दोग्ये तत्त्वमसीतिवदित्यर्थः । ब्रह्मैव सर्वमात्मैव सत्प्रकाशाविशेषतः । हेयोपादेयभावोऽयं न सन्स्वप्नवदीर्यते ।

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि का उपदेश

जो सम्पूर्ण संसार का शासक हो उसे ईश कहते हैं। ऐसे ईश्वर से पृथिवी में सम्पूर्ण जड़-चेतनरूप जगत् को आच्छादन कर देना चाहिये और उसी परमार्थ सत् रूप परमेश्वर के दर्शन से असत्य जगत् का त्याग हो जाता है तथा ऐसे त्याग भाव से आत्मा का रक्षण करना चाहिए एवं किसी के धन की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये।

ईश् धातु से कर्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर ईश् शब्द बनता है। निर्विकार चैतन्य में ईशन-कर्तृत्व सम्भव न रहने पर भी माया उपाधि वाले चैतन्य में ईशन-कर्तृत्व सम्भव ही हैं। अतः मायोपाधिक चैतन्य ईश् शब्द का वाच्यार्थ है तथा निरुपाधिक चैतन्य लक्ष्यार्थ है। परमेश्वर ही सम्पूर्ण

१. प्रत्यगात्मतयेति—प्रत्यग्रूपत्वादित्यर्थः । प्रत्यक्त्वमान्तरत्वम् । २. प्रत्यगात्मतया—सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात् । ३. इति परमार्थसत्यरूपेण स्वेन परमात्मनेत्यन्वयः । इत्यनया परमार्थसत्यस्वात्मधियाऽनृतधीस्त्याज्येति वाक्यार्थः । परमार्थसत्यत्वेनात्मानं विशिषन् चराचरस्य जगतोऽनृतत्वं व्यावहारिकसत्यत्वरूपमनुजानातीत्यवधेयम् । ४. कल्पितभेदेनेति जीवेश्वरयोरित्यादिः । ५. न वास्तवभेदानुमानमिति-वास्तवभेदस्य व्याप्तिघटकत्वे प्रतिबिम्बे व्यभिचारात् कल्पितस्तु भेदो वास्तवैकात्म्याविघटकतया नास्माकमनिष्ट इति भावः । ६. तत्त्वतोऽनीश्वरस्येश्वरात्मकत्वोपदेशोऽनर्थाय भवति न स परमाप्तवेदार्ह इत्यभिप्रेत्याह—तत्त्वत इति । ७. आच्छादनीयम्—विषयीकरणीयमिति यावत् । ८. ननु तत्त्वतोऽनीश्वरस्यापि जगत ईश्वरत्वेनोपासनार्थ एवायमीश्वरात्मत्वोपदेशो भविष्यति । शालग्रामशिलायां विष्णुत्वोपदेशवत् तन्नैकात्म्यपरत्वमुपनिषदां न च वेदोक्तामुपास्ति कुर्वाणोऽनर्थमियाद्वियादेवलोकप्राप्तिसाधनत्वश्रवणादित्याशङ्कमानम्प्रत्याह एष तत्त्वोपदेश इति । यथावस्तूपदेश एवायं नतूपास्त्यर्थमारोप्योपदेश इति भावः । ९. ननु तत्त्वमसीत्युपदेशोऽप्यात्मनोब्रह्मत्वेनोपास्त्यर्थ एव मनोब्रह्मेत्यादिवदिति न तद्दृष्टान्तेनास्यतत्त्वोपदेशत्वमवगन्तुमर्हमिति विप्रतिपद्यमानं युक्त्या बोधयति—ब्रह्मैव सर्वमात्मैव सत्प्रकाशाविशेषत इति । सर्वं सच्चिद्ब्रह्माभिन्नं सन्घटःस्फुरतीत्येवं नियमेन सत्स्फुरणानुविद्धतया प्रतीयमानत्वात् इदमनुविद्धतया प्रतीयमानतदर्थरज्ज्वाभिन्नसर्पादिवदित्यर्थः । १०. सन्नेति—सतोब्रह्मण एव स्फुरणविशेषादयं हेयोपादेयभावो यथा स्वप्ने द्रष्टुरेकस्यैव तत्तदात्मनास्फुरणाद्धेयत्वमुपादेयत्वं च तद्वदतो नसन् असन् ईर्यते उच्यते ब्रह्मविद्भिरित्यर्थः । अविशेषत इति चेत्पाठस्तदासर्वत्र सत्तास्फुरणयोरनुगमात्सर्वमात्मैवेति पूर्वत्रैव हेतुत्वेनान्वयः । ११. ननु सर्वस्य ब्रह्मत्वे प्रतीयमानोहेयोपादेयभावो नोपपद्येत नहि यद्धेयं तदेवोपादेयमपि संभवति, विरोधात् । किं च सर्वं चेदात्मा तदा देहमात्मानं मन्यमानैः किमपराध्यते तत्राह—हेयोपादेयभावोऽयं न सन्निति । यत ईर्यत=उच्यते नाममात्रमित्यर्थः वाचारम्भणश्रुतेः । अत्रायं प्रयोगः हेयोपादेयतागर्भः प्रपञ्चः सन्नभवति ईर्यमाणत्वाद्वाच्यत्वादित्यर्थः वाच्यत्वं दृश्यत्वाद्युपलक्षणं स्वप्नवदिति । तथा चैकस्मिन्नेव द्रष्टरि स्वप्ने नानाविरुद्धमिथ्याधर्माणां दृश्यमानत्वाच्च किंचिदनुपपन्नम् ।

'नीयं स्वेन' परमात्मना। यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसंबन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाऽऽच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन। तद्वदेव हि स्वात्मन्य-ध्यस्तं स्वाभाविकं' कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्यु-पलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं'

'उक्तं च–'न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः। नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः' इति। 'यस्यौपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिर्न तिरस्क्रियते तस्य 'विचारादिप्रयत्नेन तत्त्वप्रकाशे सत्यनृतदृष्टिस्तिरस्क्रियेतेत्यभिप्रेत्य' दृष्टान्तमाह—यथेति। चन्दनागर्वादेरुदकादिसंबन्धादार्द्रीभावादिना जातं यद्दौर्गन्ध्यमौपाधिकं मिथ्या तद्यथा तत्स्वरूपनिघर्षणाभिव्यक्तेन स्वाभाविकेन गन्धेनाऽऽच्छाद्यते तद्वद्विचारादेः 'स्वरूपसद्भावान्मिथ्याबुद्धेर्बाधकत्वं संभवतीत्याह—तद्वदेवहीति। स्वभावोऽनादिरविद्या

जगत् का शासक हो सकता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा है। जिस प्रकार दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब का आत्मा (असली रूप) बिम्बरूप देवदत्तादि पुरुष उस प्रतिबिम्ब का शासक माना जाता है, क्योंकि बिम्ब में विकार होने के बाद प्रतिबिम्ब कभी भी निर्विकार रह नहीं सकता। अतः ईशिता ईशितव्य भाव कल्पित होने से दोनों में पारमार्थिक भेद का अनुमान नहीं किया जा सकता। उसी पारमार्थिक स्वरूप, सभी प्राणियों के आत्मरूप स्वस्वरूप ईश्वर से ब्रह्माण्ड कटाह में वर्त्तमान भूत-भौतिक, जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् को आच्छादन कर देना चाहिए, क्योंकि परमार्थतः ईश्वर होता हुआ भी भ्रान्ति से जीव और जगत् रूप से प्रतीत हो रहा है। अतः यह सम्पूर्ण संसार मैं ही हूं, इस प्रकार प्रत्यगात्मा ईश्वर दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् को आच्छादन करने के लिये श्रुति का आदेश है। सम्पूर्ण संसार का अन्तरात्मा ईश्वर मैं हूं, ऐसा जानना ही तत्त्व-उपदेश है, जिसे उद्दालक महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु के प्रति नव बार तत्त्वमसि वाक्य का उपदेश किया है। साधन-चतुष्टय-सम्पन्न उत्तम अधिकारी को तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्य श्रवणमात्र से हेय-उपादेय भावशून्य अन्तरात्मा का

१. आच्छादनीयं—अनृतधीस्तिरस्करणीयेतियावत्। २. स्वेन=स्वाभिन्नेनेत्यर्थः।
३. स्वाभाविकम्=अनाद्यविद्योपाधिप्रयुक्तमित्यर्थः। ४. ननु जगत्यां वर्तमानं वास्यमित्युक्तेर्जगती न वास्यास्यान्नहि जगती जगत्यां वर्तते तामेताशङ्कां निर्णुदति–जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वादिति–जगतो निःशेषताबोधनायेत्यर्थः। (वस्तुतस्तु जगत्यामित्युक्त्या न भूलोकवर्तिमात्रं ग्राह्यं किन्तु भुवरादिलोकस्थमपीहविवक्षित-मित्याशयेनाह जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वादिति। ५. त्यक्तं स्यात्=बाधितं स्यादित्यर्थः।
६. ब्रह्मैवसर्वमात्मैवेत्यत्र स्वयं युक्तिमभिधाय प्रत्ययान्तरं संवादयति उक्तं चेत्यादिना। नित्यप्रकाश आत्मैव विश्वात्मना विवर्तमानो बन्धाद्याकारः प्रतिभाति। न बन्धाद्येव वस्तु सदिति पद्यार्थः। ७. औपदेशिकेति—स्वकीयविचारमन्तरापि शुद्धान्तःकरणतया श्रद्धाद्यतिशयाद्गुरूपदेशमात्रोत्थेत्यर्थः। ८. विचारादीत्यादिना सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति भावना भण्यते। तत्प्रयत्नस्तु तयोः पौनःपुन्येन करणम्। ९. इति अभिप्रेत्येति–इत्युपदेष्टुमितियावत्। स्वरूपसद्भावादिति–विचार्यं स्वरूपस्य प्रतीचः कूटस्थ नित्यत्वादिति यावत्। एतेन शून्यादिवादिनां विचारवैफल्यमुक्तम्। चन्दनाद्यपि यावत्स्वरूपावशिष्टं भवति तावदेव घर्षणेन गन्धाभिव्यक्तियोग्यतां धत्ते। नितान्तं जीर्णतया नष्टप्रायं तु नेति दृष्टान्तस्वारस्यात्। यद्वा स्वरूपसद्भावादिति स्वस्य आत्मनो रूपं शुद्धत्वाकर्तृत्वादि याथात्म्यं तस्य स्वाभाविकत्वेन सत्त्वादित्यर्थः। कर्त्रादिस्वभावत्वेतु सहस्रधाविचार्यमाणोऽपि नासावकर्त्रादि रूपतामापादयितुं शक्य इति विफल एव विचारादियत्नः चन्दनगन्धाय बर्बुरघर्षणवदिति। यद्वा–स्वरूपस्यात्मयाथात्म्यस्य सद्भावादाविर्भावात् हेतौ पञ्चमी तथा च आविर्भावद्वारेति पर्यवस्यतीत्यलम्।

तत्कार्यं 'स्वाभाविकमित्यादि[1]बाध[2]योग्यत्वप्रदर्शनार्थं विशेषणम् । एवं विचारादिप्रयत्नवतोऽनृतदृष्टितिरस्कारसंभावनामुक्त्वा युक्त्यनभिज्ञस्य सर्वमिदमहं चेश्वर एवेति भावनायामधिकृतस्य युक्तिकुशलस्य च विचारेऽधिकृतस्य सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकार इह मन्त्रेविवक्षितस्तेन त्यक्तेनेत्यत्र 'त्यागपरामर्शात्[3] । 'त्यजतैव[4] हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्पर पदमित्यन्यत्राप्युक्तत्वात्पुत्राद्येषणायाश्चित्तविक्षेपहेतुत्वेन

ब्रह्मरूप से साक्षात्कार हो जाता है। जिसे उपदेश मात्र से जीव एवं जगद्भावरूप मिथ्या दृष्टि निवृत्त नहीं होती उसे भी विचारादि के बाद ब्रह्मात्मैक्य का साक्षात्कार हो जाने पर मिथ्या-दृष्टि निवृत्त हो जाती है, इसे दृष्टान्त से समझाते हैं—जिस प्रकार चन्दन अगरु इत्यादि सुगन्धित द्रव्य में जलादि-सम्बन्ध से गीलापन आ जाने के कारण औपधिक दुर्गन्ध आ जाती है, जो चन्दन के घिसने से उसके पारमार्थिक निजरूप गन्ध के द्वारा ढक दी जाती है। ठीक वैसे ही आत्मा में अनादि अविद्या-प्रयुक्त कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिरूप सम्पूर्ण द्वैत नामरूप एवं कर्म भेद से भिन्न समस्तविकार समूह परमार्थ सद्रूप आत्मभाव से त्याग दिये जाते हैं। चन्दन एवं अगरु इत्यादि द्रव्य का पारमार्थिक रूप सुगन्धयुक्त है, किन्तु उनमें जल के सम्पर्क से गीलापन आ जाता है, पुनः दुर्गन्धि भी आ जाती है। वह दुर्गन्धि चन्दनादि में स्वाभाविक नहीं है अपितु जलरूप उपाधि के कारण से है। औपाधिकरूप सदा नहीं रहता। उपाधि के हटते ही पारमार्थिकरूप प्रकट हो जाता है एवं औपाधिकरूप मिट जाता है। तभी तो घर्षण से चन्दन के पारमार्थिक-स्वरूप प्रकट होते ही औपाधिक दुर्गन्ध का आच्छादन हो जाता है। वैसे ही विचार से सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्वबुद्धि आ जाती है, जो अविद्योपाधि के कारण से कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिरूप एवं नामरूप तथा कर्म भेद से अनेक भाव में विभक्त दीखता था। अतः आपाततः प्रतीत होने वाले द्वैत की निवृत्ति का एकमात्र साधन वेदान्त-विचार ही है।

इस प्रकार विचारादि साधनों से अनृत दृष्टि तिरस्कृत हो सकती है। अतः यह सम्पूर्ण संसार तथा मैं परमेश्वर ही हूं, ऐसी भावना से युक्त पुरुष का लोकेषणा, वित्तेषणा तथा पुत्रेषणा त्याग में ही अधिकार है कर्मों के करने में नहीं। कर्म में तो अनात्मा में दृढ़ आत्म भाव वाले पुरुष का ही अधिकार शास्त्रों में बतलाया गया है। इसे बार-बार श्रुति के शब्दों में भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य जी कहेंगे।

श्रुति के "त्यक्तेन" इस शब्द का अर्थ "त्यागेन" करना चाहिये, क्योंकि त्यक्तेन पद का यथाश्रुत अर्थ करने पर सङ्गति बैठती नहीं है। क्या त्यक्त अथवा मृतपुत्र एवं भृत्य किसी का पालन कर सकता है? अर्थात् नहीं। उनके साथ सम्बन्ध का उच्छेदन हो जाने के कारण हमारे आत्मा के संरक्षण में वे समर्थ नहीं हैं। अतः 'त्यक्तेन' पद का अर्थ 'त्यागेन' करना ही इष्ट है। त्याग के बाद ही उस त्यक्तैषणात्रय संन्यासी के हृदय में प्रत्यक् स्वरूप ब्रह्म का बोध होता है। पुत्रादि एषणा से चित्त में विक्षेप होता है, यह सर्वलोक अनुभव सिद्ध बात है। अतः आत्मा का रक्षण त्याग से ही हो सकता है, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय, कूटस्थ एवं असङ्ग है और इस रूप से आत्मसंस्थिति का नाम ही मोक्ष है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने पर ही आत्मसंरक्षण सम्भव है, क्योंकि त्याग आत्मसंस्थिति रूप मोक्ष के अनुकूल है।

१. स्वाभाविकमित्यादीत्यादिशब्दः प्रकारवचनस्तेन स्वात्मन्यध्यस्तमितिप्रागुक्तविशेषणसंग्रहः। २. बाधो-मिथ्यात्वनिश्चयः। ३. त्यागपरामर्शात्—त्यागोक्तेः त्यागविधानादितियावत्। ४. स्फुटस्यविधेरभावात्तत्रोक्तियुक्ती आह—त्यजतैवेत्यादिना।

स्यात् । एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि[1] त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः । भुञ्जीथाः [2]पालयेथाः । एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम् । कस्यस्विद्धनं [3]कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः । अथवा मा गृधः ।

प्रसिद्धत्वाच्चेत्यभिप्रेत्याऽऽह–एवमीश्वरात्मेति । [5]चिकीर्षितं संन्यासं स्तौति–तेन त्यक्तेनेति । त्यागेनात्मा रक्षितः स्यान्नि[4]ष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानानुकूलत्वात्त्यागस्येत्यर्थः । संन्यासिनः शरीरसंधारणोपयुक्तकौपीनाच्छादनभिक्षाशनादिव्यतिरिक्तेऽपि [6]कथंचिद्द्रव्यपरिग्रहे रागश्चेत्प्राप्नोति तन्निरोधे यत्नः कर्तव्यः । तस्य [7]प्रधानविरोधित्वादित्यभिप्रेत्य नियमविधिमाह––एवं त्यक्तैषण इति । [8]स्विदिति निपातस्य [9]सामान्यार्थत्वेऽपि कस्यस्विदिति "[10]वितर्कार्थत्वमन्यत्र" प्रसिद्धं तदिह न गृह्यत इत्यनर्थकमित्युक्तम् । व्यवहारदृष्ट्याऽप्यात्मन एवेदं सर्वं शेषभूतं जडस्य चित्परतन्त्रत्वादतोऽप्राप्ते विषये नाऽऽकाङ्क्षा कर्तव्या । परमार्थतस्त्वात्मैव सर्वमित्याकाङ्क्षाविषय एव नास्तीत्यर्थः ॥१॥

इस प्रकार तीनों एषणाओं का परित्याग कर देनेवाले संन्यासी अपने तथा अन्य किसी व्यक्ति के धन की आकाँक्षा न करें । प्रत्युत शरीर-रक्षण के उपयोगी कौपीन, आच्छादन एवं भिक्षा भोजन के अतिरिक्त विषय में सङ्ग से राग उत्पन्न होने पर उस राग के निरोध के लिए प्रयत्न करना चाहिये । संगदोष से उत्पन्न राग, उसके आत्मज्ञान का प्रतिबन्धक होने से विरोधी माना गया है । अतः अपने तथा अन्य के धन की आकांक्षा आत्मकल्याण चाहनेवाले संन्यासी को नहीं करनी चाहिये । मन्त्र में आये स्वित् शब्द का कोई अर्थ नहीं है, वह तो अनर्थक निपात है ।

अथा 'कस्यस्विद्धनम्' यह शब्द आक्षेप अर्थ में है । अर्थात् किसी का धन ही नही है जिसकी आकांक्षा की जा सके । यह सम्पूर्ण परपञ्च आत्मा ही है, ऐसी परमेश्वर भावना से सम्पूर्ण द्वैत का परित्याग हो जाता है । अतः यह सम्पूर्ण कल्पित जगत् अधिष्ठानस्वरूप आत्मा के अधीन होने से आत्मरूप ही है । नामरूप नहीं है । नामरूप की दृष्टि से तो संसार मिथ्या ही है, ऐसी मिथ्या वस्तुकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही तो है । अतः आकांक्षा का विषय न रहने के कारण संन्यासी किसकी आकांक्षा करने लगे ? ॥१॥

इस प्रकार प्रथममन्त्र के पूर्वार्ध से तत्व का उपदेश किया गया । तृतीय पाद से अपरिपक्व ज्ञानवाले के लिये संन्यास विधि बतलाई गयी एवं चतुर्थ पाद से संन्यासी के लिये नियमविधि बतलायी गयी है । भगवान् भाष्यकार ने मन्त्र के प्रत्येक पदों का अर्थ बतलाया । उसका संक्षेयरूप में अग्रिम प्रसंग के

---

१. ननु तच्छब्दस्यपूर्वोक्तजगत्परामर्शकतया त्यक्तेन तेन जगतेत्यर्थसंभवे कुतस्तत्त्यागेनेतिव्याख्यायते तत्राह–नहीति ।
२. पालयेथाः—आत्मानमितिशेषः । पालनं स्वरूपावस्थानम् । ३. कस्यचित्—कस्यापीत्यर्थः ।
४. निष्क्रियेत्यादि—स्वरूपावस्थानमेवात्मनोरक्षेति भावः । ५. चिकीर्षितं=विधित्सितमितियावत् । ६. कथंचित्—प्राच्यवासनया कुसङ्गादिनावेत्यर्थः । ७. प्रधानेति—प्रधानं प्रागुक्त भावनाविचारान्यतरत् तस्य प्रधानत्वं तु शरीरयात्रोपयुक्तकर्तव्यान्तरापेक्षम् । नियमविधिमिति--रागाभावपक्ष एव प्राप्तस्य गर्धाभावस्य नियाकं विधिमित्यर्थः । तदुक्तम्—विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत इति ।
८. ननु चिदर्थेस्वितं व्याख्यायाप्युनर्थकत्वोक्ति रसङ्गतेत्याशङ्क्याह—स्विदितीति । ९. सामान्यार्थकत्वेऽपि–कस्यचिदित्यत्रत्य चिदर्थकत्वेऽपीत्यर्थः । १०. वितर्कार्थत्वमिति=तथा च मेदिनी–स्वित्प्रश्ने च वितर्के च तथैव पादपूरणे–इति । १०. अन्यत्रेति—यथा कस्यस्विदयमश्वः स्यादित्येवमादौ संदेहपूर्वकविमर्शार्थत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः ।

कस्मात् । कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद्गृध्येत । [3]आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत आत्मन[1] एवेदं सर्वमात्मैव[2] च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधि मा कार्षीरित्यर्थः ॥ १ ॥

साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए—अनुवाद करते हैं ('एवं इत्यादि' ग्रन्थ से)

इस प्रकार आत्मज्ञानी पुत्रादि एषणात्रय का संन्यास कर दें एवं आत्मज्ञाननिष्ठा से आत्मा की रक्षाकरें । बस यही प्रथम मन्त्र का अर्थ है । अब उनसे भिन्न अज्ञानी व्यक्ति अनात्मा को आत्मा जानने के कारण जो आत्मा के समझने में असमर्थ है, उनके लिये द्वितीय मंत्र से कर्म का उपदेश किया जाता है । इस कर्माधिकार मानव लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुये ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें । इस प्रकार करने वाले मनुष्य में शास्त्रनिषिद्ध कर्म लिप्त नहीं होते । इससे भिन्नपाप कर्मों से असंग रहने का कोई साधन नहीं है ।

मनुष्य की पूर्ण आयू सौ वर्ष की सामान्यतया मानी गयी है । यह लोकतः सिद्ध है । उसी का अनुवाद करके श्रुति कहती है—जो सौ वर्ष जीना चाहता है, वह कर्म करते हुए ही जीवे । इससे सतवर्ष जोने की इच्छावाले के लिए यावत् जीवन अग्निहोत्रादि कर्मों का बिधान किया गया है । इस प्रकार से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छावाले मनुष्य शरीराभिमानी पुरुष अशुभ कर्म से लिपायमान नहीं होता है । अन्यथा प्रकृति के बशीभूत हो शरीरेन्द्रियादिक से स्वच्छन्दव्यवहार करने पर शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्म का होना भी स्वाभाविक है । अतः शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान सदा करते रहने के सिवा पापकर्मों से अलिप्त रहने का अन्य साधन ही नहीं है । यद्यपि शरीरेन्द्रिय से कर्म सदा होते ही रहते हैं, तभी तो गीता कहती है कि 'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् कोई भी व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, फिर तो कर्म का बिधान करना व्यर्थ ही है ? तथापि कर्माणि पद का अर्थ शास्त्रविहित कर्म करने पर कोई आशंका नहीं रहती है । अतः शास्त्र में शरीरेन्द्रियों की यावत् चेष्टाओं को कर्म नही कहते किन्तु शास्त्राविहित कर्म को ही कर्म कहते है । इस मन्त्र के उत्तरार्ध में आये हुये कर्म शब्द का अर्थ अशुभ कर्म करना चाहिये, अन्यथा संगीत बैठती नहीं है । इस प्रकार यावत् जीवन अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से न केवल अशुभ कर्मों से अलिप्त रहेगा, अपितु अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक विषयों से वैराग्य होने पर क्रमशः मोक्ष का अधिकार अत्मा हो सकता है । मोक्षाभिलाषी संन्यासी को कर्म परित्याग से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है ।

१. नन्वात्मैवेदं सर्वमित्येषा तावत्परमार्थदृष्टिर्न च सा व्यवहारकालेऽवतिष्ठते, विरोधात् । तथा च व्यवहारभूमौ प्राप्नोति चेद् गर्धः स कथं निवर्तनीय इत्यत्राह—आत्मनएवेदं सर्वमिति । ननु कीदृशीयं व्यवहारदृष्टिर्यत्र चिदैक्यमेव सर्वत्रावलोक्यते व्यवहारस्य भेदगर्भत्वात् किञ्चैतां बुद्धिं पुरोधाय परकीयेऽपि स्वकीयत्वधिया प्रवर्तमानः कथं न लगुडैस्ताड्येतेति चेन्मैवम् भावानवबोधात् । विदुषोव्यवहारदृष्टित्वेन हि चिदैक्यावलोकने सत्यापि सर्वत्र चिदेव भोक्त्री तदेकभोग्यं च जडजातमित्येवं भोक्तृभोग्यभावेन द्वैतस्यावलोकनमेव विवक्षितं न हि विदुषां नितान्तमावृतधियामिव व्यवहारोऽभिमतः । परमार्थतत्त्वस्य व्यवहारेऽप्यविस्मर्तव्यत्वादन्यथा किमनया विद्यया भाग्यमाणया नचायमुपदेशः प्रवृत्त्यर्थः । सर्वस्य चिद्व्याप्ततया न ममाऽनवाप्तमस्ति किंचिदित्येवं तृप्तिमनुभूय निवर्तनीयमेव सर्वत इत्येवमर्थत्वादस्योपदेशस्येत्यलम् । २. आत्मैव च सर्वमित्युपसंहारार्था पुनरुक्तिरित्यदोषः ।

३. न कस्यचिद्धनमस्तीत्यत्र हेतुमाह—आत्मैवेत्यादिना । यतः सर्वं त्यक्तं बाधितमत इत्यर्थः । सर्वं यदाऽऽत्मत्वेनैवावलोकितं न तदा धनस्य धनत्वं नापि कस्यापि तत्स्वामित्वमिति न कस्यापि धनं यद् गृध्येतेत्यर्थः ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

इस (कर्माधिकारी मानव) लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। इसप्रकार मनुष्यत्वाभिमान रखने वाले तुझमें शास्त्र-निषिद्ध कर्म लिप्त नहीं हो सकता। इससे भिन्न पाप कर्मों से अलिप्त रहने का कोई दूसरा उपाय नहीं है ॥२॥

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्यानात्मज्ञतयाऽऽत्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः–कुर्वन्नेवेति। कुर्वन्नेवेह निर्वर्तयन्नेव कर्माण्यग्निहोत्रादीनि। जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेच्छतं शतसंख्याकाः समाः संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्। तथा च प्राप्तानु-

---

आद्यमन्त्रस्य पूर्वार्धेन तत्त्वोपदेशः कृतस्तृतीयपादेनापरिपक्वज्ञानस्य संन्यासविधिरुक्तश्चतुर्थपादेन संन्यासिनो नियमविधिरुक्त इति प्रतिपदं व्याख्याय संक्षिप्यार्थमनुवदत्युत्तरस्य संबन्धाभिधित्सया —एवमात्मविद इत्यादिना। पूर्व मन्त्रेण ज्ञानं विहितं यस्य तस्यैवोत्तरमन्त्रेण कर्म विहितं ततः

किन्तु अनात्मा में आत्मबुद्धि माननेवाले को अशुभ कर्मों से छूटने के लिये एकमात्र उपाय शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान ही है, इसे 'नान्यथेतोऽस्ति' इस शब्द से बतलाया गया है।

इस पर वेदांत के एकदेशी - ज्ञानकर्म समुच्चयवादी शंका करता है कि पूर्व मन्त्र से जिसके लिये ज्ञान का विधान किया गया है उसी के लिए दूसरे मन्त्र से कर्म का भी विधान किया गया है, ऐसा क्यों न माना जाय? पूर्व मन्त्र से संन्यासी के लिये ज्ञाननिष्ठा बतलायी गयी एवं द्वितीय मन्त्र से ज्ञान में असमर्थ व्यक्ति के लिये कर्मनिष्ठा बतलायी जा रही है, ऐसा अर्थ क्यों किया जा रहा है? सिद्धान्ती कहते हैं— पर्वत केसमान अडिग जिस ज्ञान और कर्म के विरोध को मैंने बतलाया; क्या तुम्हें वह स्मरण नहीं है? इस उपनिषद् में भी तो कहा गया है, कि जीने की इच्छावाले जीवन भर कर्म करे तथा सर्वात्मभावदर्शी ज्ञानी कर्म का परित्याग कर दे, क्योंकि त्याग से ही आत्मा का रक्षण हो सकता है। अतः सर्वात्मभाव से नामरूपप्रपञ्च का परित्याग कर किसी के धन की आकांक्षा न करे, क्योंकि लोक परलोक के

---

१. एवमात्मविदः=अपरिपक्वज्ञानस्येत्यर्थः. शुद्धान्तःकरणस्येति यावत्। २. अनात्मज्ञतयेति—अशुद्धान्तःकरणतयेति यावत्। ३. अशक्तस्येति—ननु सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति मनोमात्रव्यापारे का नाम शक्तिः कथं च तदशक्तस्य क्रियाशक्तिर्येनं कुर्वन्निति क्रियोपदिश्यत इति तु नाऽऽशङ्क्यम्। मदिरामदात्मकाशुद्धेर्मनोव्यापारप्रतिबन्धकत्वस्य बाह्यकर्माप्रतिबन्धकत्वस्य च दर्शनात् मोहमदिरेत्थाऽशुद्धिरेवहि प्रकृतेऽशक्तिः। मद्यमित्तो हि चिरपरिचितमपि गृहादि नानुसंधातुमलम्। वक्ति, भुङ्क्ते, गच्छति च वचनादावसम्बद्धत्वं तु मनोव्यापारासामर्थ्यसूचकमित्यवधेयम्। शतमित्येव कुतस्तत्राह–तावद्धीति। ४. निरूपितम्–शतायुर्वै पुरुषः इत्यादि वचनैरिति शेषः। ५. तथाच=पुरुषायुषस्य तावत्त्वस्य वचनान्तरेण निर्धारितत्वेचेत्यर्थः। ६. प्राप्तानुवादेनेति—वाक्यान्तरप्राप्तं यत्परमायुः स्वतःप्राप्ता च या तदिच्छा तयोरनुवादेनेत्यर्थः। ७. अपरि पक्वज्ञानस्य संन्यासविधिरिति—अनेन परिपक्वज्ञाने साधनीभूतोऽपरिपक्वज्ञानाधिकारिको विविदिषासंन्यासो वैधः परिपक्वज्ञानाधिकारिको ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यासस्त्व वैध इति ध्वन्यते। ८. ज्ञनकर्मणोरित्यादि भाष्येऽन्तर्हितं युक्तिजालमाविष्कुर्वन्समाधानमवतारयति–शुद्धब्रह्मेत्यादिना। कार्यब्रह्मज्ञानकर्मणोः समुच्चयस्य सिद्धान्तेऽप्यभीष्टत्वाच्छुद्धेति ब्रह्मविशेषणम्। कार्यब्रह्मज्ञानं च तदुपास्तिरेवेति बोध्यम्।

वादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते। एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति नरे नरमात्राभिमानिनीत एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्तमानात्प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरं नास्ति येन प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यत इत्यर्थः। अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनी कुर्वन्नेव जिजीविषेत्। कथं पुनरिदमवगम्यते। पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य

समुच्चयानुष्ठाने तात्पर्यं मन्त्रद्वयस्येत्येकदेशी शङ्कामुद्भावयति—कथं पुनरिति। शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणी-नैकाधिकारे विरुद्धत्वाद्‌ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मवदस्त्येव तत्रापि क्रमेणैककर्तृकत्वमिति चेन्न। विशिष्टरूपभे-दाद्भिन्नाधिकारत्वात्। यच्चोक्तं ज्ञानकर्मणोर्वेदविहितत्वेन शुद्धिसाम्याद्विरोधोऽसिद्ध इति तदसत्।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य रस्सी में सर्प के समान आत्मा में कल्पित हैं। कल्पित वस्तु के त्याग से ही अधिष्ठान ज्ञान की रक्षा हो सकती है। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानुशुः' इस बृहदारण्यक श्रुति में भी त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति बतलायी गयी है। ज्ञान एवं कर्म का समुच्चय इस लिये भी सम्भव नहीं है, कि कर्तृत्वाभिमान रहने पर लौकिक धनादि ऐश्वर्य से सम्पन्न व्यक्ति कर्म में अधिकारी माना गया है। संन्यासियों के लिये धनादि के परित्याग के साथ धनाकांक्षा का भी निषेध होने के कारण उनके लिये कर्म में अधिकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीने की इच्छावाले कर्म के अधिकारी हैं, ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। ज्ञानी के लिये तो कहा है कि 'जीवन और मरण में आकांक्षा न करे। स्त्रीजन से असंकीर्ण आश्रम में चला जाय और फिर वहां से लौटे नहीं, अर्थात् संन्यास के ब द फिर कर्म में श्रद्धा न करें" यही वेद-शास्त्र की अन्तिम स्थिति है। इसीलिये जीवन-मरण की आकांक्षा से विमुक्त पुरुष के लिये संन्यास का विधान किया गया है एवं सौ वर्ष जीने की इच्छावाले के लिये कर्म का विधान किया गया है। अतः दोनों के अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं, एक ही नहीं।

---

१. इत्येतदिति—कर्मानुष्ठानमिति यावत्। २. नरमात्राभिमानिनीति—नरत्वकर्तृब्रह्मत्वाभिमानिनीति भावः। ३. अतः=अशुभकर्मलेपाभावाय प्रकारान्तराभावादित्यर्थः। ४. ऋतुगमनेत्यादि अत्र गृहस्थसंन्यासिधर्मवदिति नोक्तं स्नानाचमनजपादिसाधारणधर्मान्तर्भावेन दृष्टान्तत्वानुपपत्तेः सिद्धान्त्यभिमतसंन्यासे समुच्चयवादिनां विप्रतिपत्तेश्च। त्रिदण्डीसंन्यासिभेदस्तस्य बाह्यदण्डत्रयधारणं त्वान्तरदण्डत्रयज्ञापनार्थं विधीयत इत्यभिप्रायेण तं निरुक्तवान् भगवान्मनुस्तथाहि—"वाग्दण्डोऽथमनोदण्डः कायदण्डस्तथैवच। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते। त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः। कामक्रोधौ तु संयम्य तत सिद्धिं निगच्छति' अ-१२ श्लोक १०-११। अत्र वागादिदमनमेव वागादिदण्डत्वेन विवक्षितं, दमनं च निषिद्धनिवर्तनम्। एवं च वागादिकरणदमनं त्रिदण्डिधर्मः। ऋतुगमनं त्वदमनं गृहिधर्म इत्यनयोर्विरुद्धत्वान्नैककर्तृकत्वं यथा तद्वदित्यर्थः। (गृहिधर्म इति-ऋतुकाले भार्यासंगमो गृहस्थस्य धर्मत्वेनर्तौ भार्यामुपेयादिति विधीयते। ५. हेतौसव्यभिचारत्वं शङ्कते-अस्त्येवेति। दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं वा शङ्कितमनेनेति मन्तव्यम्। ६. विशिष्टेति—व्यक्तिमात्रैक्येऽपि विशेषणभेदेन विशिष्टयोर्भेदान्नैककर्तृकत्वं तयोरित्यर्थः। तयोः शास्त्रविहिता ये धर्मा आचाराश्च त एव विशेषणानि वेषभेदोऽपि तथा। ७. एकदेशिग्रन्थोक्तानि चोद्यानि कटाक्षयति—यच्चोक्तमित्यादिना। ८. शुद्धिसाम्याद्विरोधोऽसिद्ध इति—विहितत्वेन पापाद्यजनकत्वमेव तयोः शुद्धिः। विप्रशूद्रयोर्युगपत्कटाधिकरणासनविरोधेऽपि न स विप्रयोर्भवति तथा च स्वरूपासिद्धौहेतुरिति भावः। अत्रायं प्रयोगः शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणी अविरुद्धे शुद्धत्वाद्वि-प्रद्वयवदिति।

कर्मनिष्ठेत्युच्यते । ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् । इहाप्युक्तं यो हि जिजीविषेत्स कर्म कुर्वन् । ईशा वास्यमिदं सर्वं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनमिति च । न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदम् । ततो न पुनरियादिति संन्यासशासनात् । उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति । इमौ[1] द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्चोत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः । तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति । [2]न्यास एवात्यरेचयदिति

---

[3]ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरप्यविरोधप्रसङ्गात् । [4]तदुभयं नैकस्य विहितमिति चेत्तुल्य[5]मेतत्प्रति[6]षेधात्तत्र[7] न[8] समुच्चय इति चेदिहापि[9] न कर्मणा न प्रजया नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दानित्यादिप्रतिषेधस्तुल्यः । केवल-[10]कर्मविषयो निषेध इति न च वाच्यं केवलपदव्यवच्छेद्याभावात्समुच्चयविधेरद्याप्यनिश्चितत्वात्तस्मान्न [11]सम्मुच्चये तात्पर्यं मन्त्रद्वयस्येत्याह—ज्ञानकर्मणोर्विरोधमिति । कर्तृत्वाद्यध्यासाश्रयं कर्म शुद्धत्वाकर्तृत्वादिज्ञानेनोपमृद्यत इति [12]संबन्धग्रन्थे यथोक्तं सहानवस्थानलक्षणं विरोधं किं न स्मरसि येनैकाधिकारत्वं तयोः कल्पयसीत्यर्थः मन्त्रलिङ्गादपि तयो[13]र्भिन्नाधिकारत्वं प्रतीयत इत्याह—इहाप्युक्तमिति । जिजीविषो रागिणः कर्मविहितं सर्वमीश्वर एवेति ज्ञानवतस्त्यागो विहितः । किंच[14] धनसंपन्नस्यैव कर्मण्यधिकारः । प्रथममन्त्रार्थाधिकारिणश्च धनाकाङ्क्षानिषेधेन कर्माधिकारनिषेधः प्रतीयत इत्यर्थः । जिजीविषा[15] हि कर्माधिकारिण एव न ज्ञानाधिकारिण इत्यत्र प्रमाणमाह—न जीवित इति । अरण्यं स्त्रीजनासंकीर्णमाश्रममियाद्गच्छेदिति पदं वेदशास्त्रस्थितिस्ततोऽरण्यवासोपलक्षितात्संन्यासान्न पुन-

---

१. इमौद्वावेवेति—अत्र टीकोक्तावतरणानुरोधादिमावित्यादि वाक्यं नारायणोपनिषदीयमिति भाति । परं साम्प्रतिकपुस्तकेष्वेवमादिवाक्यानुपलम्भान्न्यास एवात्यरेचयदित्येतावन्मात्रस्य च तदुपनिषद्युपलम्भात्तस्यैव भूमिकाभूतमिमावित्यादिभाष्यमेवेति गम्यते अन्वेषणयत्नो वा विधेय इति कृतम् । इमावित्यादि वाक्येऽयमन्वयः—पुरस्तादिमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः । क्रियापथः संन्यास एव चेति । तत्र संन्यासं विवृणोति-एषणात्रयस्य त्याग इति । तं प्रशंसति उत्तरेण निवृत्तिमार्गेणेति-सह्युत्कृष्टेन निवृत्तिमार्गेण साध्यः । चित्तं यदा सर्वतो निवृत्तिप्रवणं भवति तदैव सम्पद्यत इत्यर्थः । एवं सति क्रियापथोऽपकृष्टेन प्रवृत्तिमात्रेणेत्यर्थाल्लभ्यते । किंवा निवृत्तिं मार्गयत इति निवृत्तिमार्गो मुमुक्षुस्तेनोत्कृष्टेनाधिकारिणा हेतुना संन्यासः प्रवर्तते । अर्थात्तु, प्रवृत्तिमार्गेणापकृष्टेन पुंसा क्रियापथः प्रवर्तत इति । २. तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयतीत्यत्र तैत्तिरीयकशाखीय नारायणोपनिषदीय वचनं संवादयति-न्यास एवात्यरेचयदिति । ३. एकदेशिहेतुं व्यभिचारयति-ऋतुगमनेत्यादिना ।

४. सिद्धान्त्युक्तं व्यभिचारमेकदेश्युद्धरति—तदुभयमिति । एकस्य विहितत्वे सति शुद्धत्वं हेतूक्रियत इति भावः ।

५. तुल्यमेतदिति—ज्ञानकर्मणोरप्येकविहितत्वाभावाद्विशेषणासिद्धो हेतुरिति भावः । ६. प्रतिषेधादिति—त्रिदण्डिनो मैथुननिषेधादित्यर्थः ७. तत्र=ऋतुगमनादेरिति यावत् । ८. न समुच्चय इति—ज्ञानिनस्तु न कर्मनिषेधः कर्मिणो वा न ज्ञाननिषेध इतिनैकविहितत्वाभावेन विशेषणासिद्ध्यसिद्धिरिति भावः । ९. अक्षतं नैकविहितत्वमिति सिद्धान्त्याह—इहापीति । ज्ञानकर्मणोरपीत्यर्थः १०. पूर्वपक्षी चोदयति केवलेति तथा चैकविहितत्वमेव तयोरिति भावः । ११. सम्मुच्चयो व्यवच्छेद्य इति चेन्नेत्याह-सम्मुच्चयेति । तस्यैव विचार्यमाणत्वादिति भावः ।

१२. संबन्धग्रन्थ इति—अनुबन्धादर्शके मन्त्राणां व्याख्येयत्वसमर्थके आरम्भभाष्ये इति यावत् । १३. तयोः=ज्ञानकर्मणोः । १४. मागृध इत्यादेराशयं वर्णयति—किंचेति । १५. ननु जिजीविषुश्चेत्कर्माधिकारी तथा ज्ञानवानपि कर्माधिकारी स्यात् किमु ज्ञानाधिकारी । नहि ज्ञानवानपि मर्तुमिच्छति । यतो व्याघ्रादिभीतः पलायमानोऽपि कदाचिदसावीक्ष्यते तत्राह—जिजीविषा हीति ।

च तैत्तिरीयके । द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावित इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं[1] व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागं [2]चानयोर्दर्शयिष्यामः ॥ २ ॥

रियात्कर्मश्रद्धया न प्रत्यावृत्तिं कुर्यादिति जिजीविषादिरहितस्य संन्यासविधानादित्यर्थः । इतश्च नैकफलकामस्य ज्ञानकर्मणोरधिकारः प्रतिपत्तव्य इत्याह--उभयोरिति । को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति सनिदानानर्थहाणं ज्ञानफलं वक्ष्यति । संसारमण्डलान्तर्गतमेव च देशान्तरप्राप्त्यायत्तं हिरण्यगर्भपदप्राप्त्यादिलक्षणं कर्मफलं वक्ष्यति । अग्ने नय सुपथेत्यन्तेनेत्यर्थः । नारायणोपनिषद्वाक्यमपि भिन्नाधिकारित्वे प्रमाणयति–इमौ द्वावेवेति । पुरस्तात्सृष्टि[3]कालेऽनुनिष्क्रान्ततरौ भूतसृष्टिमनुप्रवृत्तौ [4]भिन्नाधिकारित्वादुभयोः संन्यास एवातिरिक्तः श्रेष्ठो भवति परमपुरुषार्थव्यवधानादित्यर्थः । व्यासवाक्यमपि संवादकमाह--द्वाविमाविति ॥२॥

ज्ञान तथा कर्म के भिन्न- भिन्नफल इस उपनिषद् में भी बतलाये गये हैं।' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इस वाक्य से कारणसहित अनर्थ की निवृति ज्ञान का फल बतलाया गया है। एवं संसार–मण्डलान्तर्गत देश विशेष में स्थित हिरण्यगर्भ की प्राप्तिरूप फल 'अग्ने नय सुपथा' इत्यादि मंत्र से कर्म का फल बतलाया गया है। नारायण उपनिषद् में कहा है कि 'कल्याण के यही दो मार्ग अच्छे हैं। इनमें पहले क्रियापथ का अनुसरण करना चाहिए पश्चात् निवृत्ति मार्ग से एषणात्रय का संन्यासरूप त्याग का आश्रय करना चाहिये।' फिर भी इन दोनों में संन्यास मार्ग ही श्रेष्ठ बतलाया गया है। वेदाचार्य महर्षि भगवान् वेदव्यास ने निश्चय करके अपने पुत्र के लिये कहा है कि प्रवृत्तिरूप तथा निवृत्तिरूप दो ही धर्म कल्याण के साधन हैं।

संन्यास इसलिये भी श्रेष्ठ है, क्योंकि संन्यास के बाद परमपुरुषार्थरूप मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। इन दोनों का विभाग कर भगवान भाष्यकार भी दिखलायेंगे ॥२॥

---

१. निश्चितमुक्तमिति–भिन्नाधिकारित्वमेव निश्चित्य पथोर्द्वित्वमभाणीत्यर्थः। न ह्येकस्मै गन्त्रे युगपद्गमनाय पथिद्वयमुपदिश्यते। तदपि विरुद्धम्। २. विभागं चानयोर्दर्शयिष्याम इति–संक्षेपेणोक्तमपि स्फुटप्रतिपत्तये विस्तरेण वक्ष्यामोऽन्धंतम इत्यादि नवममन्त्रभाष्यारम्भे अग्नेनयेत्याद्यन्तिममन्त्रव्याख्यानावसाने चेत्यर्थः। ३. निवृत्तिपथस्यैव प्राथमिकत्वेन तदपेक्षया प्रवृत्तिपथस्य पूर्वकालीनत्वासंभवात् पुरस्तात्पदं व्याचष्टे—सृष्टिकाल इति। अत एव भाष्य उत्तरेणेत्यस्योत्कृष्टेनेत्यर्थ इत्यवधेयम्। उपर्युदीच्य श्रेष्ठेष्वप्युत्तर इत्यमरः उत्तरं-प्रतिवाक्येस्यादूर्ध्वोदीच्यो त्तमेऽन्यवदिति विश्वश्च तत्र मानम्।

४. पथोर्द्वित्वे हेतुमाविष्करोति—भिन्नाधिकारित्वादिति। यद्वा द्वावपि सृष्ट्या सहैव न प्रवृत्तौ कुतोऽस्त्वेतामित्यत्रायं हेतुर्भिन्नाधिकारित्वादिति। तत्र ह्याद्ये कृतयुगे कृतकृत्या एव निवृत्तिमार्गाधिकारिणः समुत्पद्यन्ते। त्रैतारम्भे तु कर्माधिकारिण इति स्पष्टं महाभारतादौ। (इहापीशेत्यादिना ज्ञानमुपदिश्य कुर्वन्नित्यिकर्मोपदेशो बलवदत्र गमकमिति विभावनीयम्) एवं निवृत्तिमार्गस्य सृष्ट्या सहैव प्रवृत्तावप्येकमत्वेऽपि द्वयं नास्तीति रीत्या द्वावनुप्रवृत्ताविच्युच्यते एकाधिकारित्वे तु द्वावपि सहैव सृष्ट्या प्रवर्तेयातामिति भिन्नाधिकारित्वमेव तयोरिति भावः। किं वा उभयोः संन्यासएवातिरिक्त इत्यत्र संभावको हेतुरयं भिन्नाधिकारित्वादिति। भिन्नाधिकारित्वे हि फलभेदसंभवेन फलातिरेकप्रयुक्तोऽन्यतरसाधनातिरेक इति संन्यासातिरेके प्रयोजकं हेतुमाह—परमेति।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥ ३ ॥

[(अद्वितीय परमात्म भाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं, फिर असुरों की तो बात ही क्या? वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। आत्मज्ञान शून्य जो कोई भी आत्मघाती हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं ॥३॥]

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—असुर्याः [1]परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य [2]देवादयोऽप्यसुरास्तेषां [3]च स्वभूता लोकाः असुर्या नाम। नामशब्दो[4]ऽनर्थको [5]निपातः। ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति [6]जन्मानि। अन्धेनादर्शनात्मकेना-

---

[7]आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुं प्रथममविद्वन्निन्दा[8] क्रियत इत्याह—अथेति। ते लोका इति तच्छब्दो यच्छब्दार्थे। यथाश्रुतमिति। येन यादृशं प्रतिषिद्धं विहितं वा [9]देवतादिज्ञानमनुष्ठितं स तदनुरूपामेव

अज्ञानी की निन्दा

अब तृतीय मंत्र आत्मज्ञानशून्य व्यक्ति की निन्दा के लिये प्रारम्भ किया जा रहा है। यह अविद्वानों की निन्दा प्रथम मंत्रार्थ विस्तार के लिये ही की जा रही है। इसका तात्पर्य निन्दा अर्थ में नहीं, अपितु तत्त्वाज्ञानियों की प्रसंसा में है। "अद्वितीय परमात्मभाव की अपेक्षा देवादि भी असुर हैं। उनके अपने-अपने लोक असुर-सम्बन्धी माने जाते हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि धनादि की अभिलाषा वाले आत्ज्ञानशून्य व्यक्ति के जो सूकर-कूकरादि देह के समान शरीर है, ऐसे देह विशेष प्रारब्ध-भोग के लिये ही प्राप्त हुये हैं। इसी लिए वे सभी देह लोक शब्द से कहे गये हैं।"

मन्त्र में आया हुआ नाम शब्द अनर्थकनिपात है, अर्थात् उसका कोई अर्थ नहीं है। ये सभी लोग आत्मा के अज्ञानरूप अन्धेरे से एवं तज्जन्य 'अहं मम' इत्यादि अभिमानरूप अभिनिवेश से आच्छादित हैं। अतः वे इस वर्तमान शरीर को त्याग कर अपने कर्म और वासना के अनुसार देवयोनि से लेकर स्थावर पर्यन्त अनन्त योनियों को प्राप्त करते हैं। ऐसे आत्मज्ञान शून्य-व्यक्ति को 'आत्महनः' अर्थात् आत्मघाती कहा गया है, क्योंकि सनत्सुजातीय संहिता में भी कहा गया है कि 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।' किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा'। अर्थात् 'जो आत्मा की वास्तविकता को नहीं जानता, उस आत्मघाती आत्मापहारी ने कौन सा पाप नहीं किया?' क्योंकि वह अविनाशी आत्मा की अज्ञानजन्य देहाभिमान के कारण हिंसा कर रहा है। अविद्या दोष से आत्मा

---

१. नन्वनात्मविदोऽप्यग्निहोत्रादिकर्मकारिणः स्वर्गादि देवलोकानाप्नुवन्तीति प्रसिद्धं तत्कथमविशेषेणासुर्यलोकगामित्व-मुच्यते तत्राह—परमात्मभावमिति। २. देवादयोऽप्यसुरा इति—असुसम्बन्धशून्यमद्वयात्मभावमपोह्यासुष्वेव रमन्ते हि ते। प्राणवाच्यासुशब्दोऽत्र प्राणशब्दाभिलप्येन्द्रियतद्विषयेषु पर्यवस्यतीति बोद्धव्यम्। ३. असुरस्य स्वम् ।४।४।१२३। इत्यनेन वैदिकसूत्रेणासुरशब्दात्तद्धितो यत्प्रत्यय इति जानन्नाह—तेषां स्वभूता लोका असुर्या इति। स्वभूता—भोग्यभूताः। ४. अन्यत्रनामशब्दस्य प्रसिद्ध्यर्थकत्वेऽपि प्रकृते देवादिलोकानामसुर्यत्वेन प्रसिद्ध्य-भावान्नतदर्थकत्वमित्याशयेनाह—नामशब्दोऽनर्थक इति। ५. निपात इति—निपातो हि वाक्यालङ्कारमात्रार्थत्वे-नापिप्रयुज्यत इति न तदानर्थक्यं दोषाय भवतीति भावः। ६. जन्मानि—शरीराणि इति यावत्।

७. आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुमिति—अनेजदेकमित्यारभ्य सपर्यगादित्याद्यष्टममन्त्रपर्यन्तेनाद्यमन्त्रोक्तस्यात्मनः स्वरूपं तदुक्तात्मज्ञानस्य फलं च (इदमपि भुञ्जीथा इत्यनेन सूचितमेवाद्यमन्त्रे) विवरीतुमिति यावत्। ८. अविद्व-न्निन्देति—सा चाद्यमन्त्रोक्तात्मविद्यास्तुत्यर्थेति मन्तव्यम्। (स्तुतिश्च विद्यायासधिकारिप्रवृत्त्यर्थेति च।

९. ज्ञानम् = ध्यानमित्यर्थः।

ज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान्स्थावरान्तान्प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म[1] यथाश्रुतम् । ये के चाऽऽत्महनः । आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः । के ते जना येऽविद्वांसः । कथं त आत्मानं [2]नित्यं हिंसन्ति । अविद्यादोषेण [3]विद्यमानस्याऽऽत्मनस्तिरस्करणात् । विद्यमानस्याऽऽत्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ॥ ३ ॥

योनिमाप्नोतीत्यर्थः । आत्महन्तृत्वस्योदरभेदिनि प्रसिद्धेः कथमविद्वांस आत्महन इत्याह—कथं त इति । [4]उदरभेदिनोऽध्यात्माधिकारे प्रसङ्गाभावादशुद्धत्वाध्यासेन [5]तिरस्कार एवाऽऽत्महन्तृत्वमित्याह—अविद्यादोषेणेति । [6]यथा कस्यचिच्छुद्धस्य [7]मिथ्याभिशापोऽशस्त्रवध उच्यते तद्वदात्मनि पापित्वाद्यध्यासोऽपि [8]हिंसैवेत्यर्थः । [9]अजरामरत्वादिलक्षणोऽहमिति संवेदनमभिधानं च यत्कार्यं तद्धतस्येव न दृश्यत इति हननमुपचर्यत इत्याह—विद्यमानस्येति । अस्याऽऽत्मघातस्य प्रायश्चित्तविधानादर्शनात्संसरणमेव फलमित्याह—तेन हीति । ॥३॥

के वास्तविक स्वरूप को न जानना एवं देह को मैं मानना, यह उसका बड़ा भारी तिरस्कार माना जाता है । विद्यमान आत्मा का कार्य अजरत्व अमरत्वरूप से ज्ञान होना ही जिसका फल है, उसके बिपरीत प्राकृत पुरुष अनात्मज्ञ आत्मघाती माने जाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि से आत्मा की वास्तविकता तिरोभूत हो चुकी है । अन्य पापों का शास्त्र में प्रायश्चित बतलाया गया है, किन्तु इस आत्मघातरूप महापाप का प्रायश्चित कहीं भी नही बतलाया गया है । अतः शुद्ध आत्मा में पापत्वादि अध्यास भी हिंसा ही है । इसलिये उस आत्महननरूप पाप के कारण अनन्तयोनियों में वे उत्पन्न होते और मरते हैं । यही आत्महनन का दुष्परिणाम होता है । लोक में आत्मघात शब्द का अर्थ विष इत्यादिक से स्वयं ही मर जाना माना जाता है, किन्तु इस अध्यात्मशास्त्र में आत्महनन शब्द से आत्मा में अशुद्धत्व पापविद्धत्वादि का अध्यास करना अर्थ ही लेना चाहिये, क्योंकि इस मंत्र में प्रेत्य शब्द का अर्थ मरकर होता है, अर्थात् इस बर्तमान देह को त्याग कर वे आत्मघाती-आत्मज्ञानशून्य योनियों में अनन्तबार भटकते हैं । यहां पर आत्महनन का फल संसार में भटकना ही माना गया है ॥३॥

---

१. किं सर्वेऽपि तुल्यलोकभागिनो भवन्ति ? नेत्याह—यथाकर्म यथाश्रुतमिति । २. आत्महन इत्यत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यत इति ताच्छील्ये क्विप् । अताच्छील्यार्थकस्यतु ब्रह्मभ्रूणवृत्रेष्वेवेति नियमादप्राप्तिरस्य क्विपस्ताच्छील्यार्थकत्वेतु आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिष्विति मानमित्यभिप्रेत्याह—नित्यमिति । ३. विद्यमानस्येति—इदमेवाविद्याया अविद्यात्वं यद्विद्यमानस्याविद्यमानवद्भावसम्पादकत्वमिति ध्वनयत्यनेन । ४. उदरभेदिनीति—असह्यं दुःखविशेषं प्राप्य प्राणत्यागार्थं छुरिकादिना शस्त्रेणोदरं स्वकीयं भिनत्ति बिदारयति यः स उदरभेदी तस्मिन् । अवैधमार्गेण प्राणांस्त्यजतीति यावत् । तदुक्तं—व्यापादयेद्वृथाऽऽत्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभिः । अवैधेनैव मार्गेण आत्मघाती स उच्यत इति । ५. तिरस्कार इति=आत्मन इत्यादिः । ६. नन्वज्ञोहमित्यविद्यया सहैवात्मनो भानात् कथं तया तत्तिरस्करणमिति माऽऽक्षेपीत्याशयानो भाष्यं स्फुटयति—यथेति । आत्मयाथात्म्यतिरस्करणमेव विवक्षितमिति भावः । ७. मिथ्याभिशापो=मिथ्याकलङ्कवचनमिति यावत् । ८. आत्मनि पापित्वाद्यध्यासोऽपि हिंसैवेति—तदुक्तमन्यत्रापि—येऽन्यथा मन्तमात्मानमकर्तारं स्वयं प्रभुम् । कर्ताभोक्तेति मन्यन्ते त एवात्महनो जना इति । भागवतेऽपि—मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महेति ।

९. ननु प्राणवियोगानुकूलव्यापारस्यैव हननत्वात्तिरस्कारस्य तथात्वाभावात् कथं तिरस्कार एव हननमित्याशङ्कामपनुदन्नाह—अजरेति ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

[(वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से) विचलित न होने वाला, सभी भूतों में एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है। इस आत्मतत्त्व को चक्षुरादि इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकीं? क्योंकि यह उन सबसे आगे गया हुआ प्रतीत होता है। वह स्थिर होता हुआ भी अन्य दौड़ने वाले (गतिशीलों) को अतिक्रमण कर जाता है। उसकी विद्यमानता में ही अन्तरिक्ष में भ्रमण करने वाला वायु (समस्त प्राणियो के प्रवृत्तिरूप) कर्मों का विभाग करता है ॥४॥ वह आत्मतत्त्व (सोपाधिक रूप से) चलता है (और निरुपाधिक रूप से) वह नहीं भी चलता है। वह (अत्यन्त) दूर में है और वही निकट में भी है, किंबहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर वह है तथा इसके बाहर भी वही है ॥५॥

यस्याऽऽत्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति [1]तद्विपर्ययेण[2] विद्वांसो जना मुच्यन्ते ते [3]नाऽऽत्महनः [4]तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते—अनेजदिति। अनेजत् न-एजत्। एजृ कम्पने। कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। [5]तच्चैकं सर्वभूतेषु। मनसः संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो[6] जववत्तरम्। कथं[7] विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं मनसो जवीय इति च। [8]नैष दोषः। [9]निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोप[10]पत्तेः। [11]तत्र निरुपाधिकेन स्वेनरूपेणोच्यतेऽनेज-

---

[12]उत्तरमन्त्रमवतारयति—यस्याऽऽत्मन इत्यादिना। [13]अविक्रियमेकं चेदात्मतत्त्वं [14]कथं तर्हि केचन स्वर्गगामिणः केचन नरकगामिणः इति [15]सांसारिकव्यवस्था स्यादिति चेन्मनउपाधिनिबन्धनेत्यभिप्रेत्याऽऽह—मनस इत्यादिना। उपाधेरनुवर्तनात्। विक्रियादिव्यवहाराश्रयत्वमिति शेषः। [16]ननु मनसो

आत्मा का स्वरूप

जिस आत्मा के हनन से अज्ञानी संसार-दुःख में पड़ते हैं, उसके विपरीत आत्मज्ञानी पुरुष

---

१. तद्विपर्ययेणेत्यत्र वैशिष्ट्ये वा तृतीयार्थस्तथा च तद्विपर्ययविशिष्टस्तद्विपरीतोऽयमर्थोऽर्थादवगम्यत इत्यर्थः। २. पूर्वमन्त्रेऽर्थादवगतमर्थं सहेतुकमाह—तद्विपर्ययेणेत्यादिना। ३. अविद्वद्वैलक्षण्यमेव स्फुटयति—ते नाऽऽत्महन इति। यतोनाऽऽत्महनस्ततो मुच्यन्त इत्यर्थः। ४. स्तुतिजिज्ञासां जनयतीत्याह—तत्कीदृशमिति। ५. तच्चैकं सर्वभूतेष्विति—एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ इति श्रुतेरिति भावः। ६. जवीयःशब्दे मतुबन्तादीयसुनि "विन्मतोर्लुक्" पा० ५।३।६५। इति मतुपो लुगित्याशयेन व्याचष्टे—जववत्तरमिति। वेगवत्तरमित्यर्थः। ७. चोदयति—कथमिति।
८. समाधत्ते—नैष इति। ९. निरुपाधीत्यादि—नहि विरुद्धोक्तेः प्रामाण्यं संभवति न चाविरोधायोपायान्तरमस्तीति भावः। १०. उपपत्तेरिति—दृष्टं चैतत्स्वरूपतोऽचलमपि नभो गच्छद्घटादि संबन्धेन गच्छदिव भातीति।
११. ननु किं केनरूपेणोक्तं तत्राह—तत्रेति। १२. अवतारयति—बुद्ध्यारूढं करोतीति यावत्। १३. नन्वनेजदेकमिति निरुपाधिकस्वरूपोपदेशस्तावन् मुमुक्षोः पुरुषार्थोपयोगी। मनसो जवीय इति सोपाधिकोपदेशस्तु क्वोपयुज्यत इत्याकाङ्क्षायां तदुपयोगं सूचयन्नवतारयति—अविक्रियमेकं चेदित्यादिना। १४. कथं तर्हीति—एकस्मिन्नविक्रिये च केचनेति भेदव्यपदेशः स्वर्गादिगामिन इति गन्तृत्वव्यपदेशश्च नोपपद्यत इति भावः। १५. सांसारिकव्यवस्थेति—संसारे प्रसिद्धा सांसारिकाणां वा व्यवस्था=प्रतिनियतः प्रामाणिको व्यवहार इति यावत्। १६. आत्मतत्त्वस्य मनोऽपेक्षयाऽधिकवेगवत्त्वोक्तया मनसो वेगवत्त्वं प्राप्तं तदाक्षिपन्नाह—नन्वित्यादिना।

देकमिति । मनसोऽन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेरनुवर्तनादिह[1] देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं [2]संकल्पेन क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम् । [3]तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सति [4]प्रथमप्राप्त इवाऽऽत्मचैतन्यावभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह । नैनद्देवा द्योतनाद्देवा[5]श्चक्षुरादीनीन्द्रियाण्येतत्प्रकृतमात्मतत्त्वं नाऽऽप्नुवन्न[6] प्राप्तवन्तः । तेभ्यो[7] मनो जवीयो मनोव्यापार[8]व्यवहितत्वात् । आभासमात्रमप्यात्मनो नैव [9]देवानां विषयी भवति । यस्माज्ज[10]वनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्पूर्वमे[11]व

देहान्तःस्थत्वाद्बहि[12]र्गमनायोग्यत्वात्कथं [13]वेगवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—देहस्थस्येति । जवीयस्त्वादश्वादिवर्त्तर्हि [14]चक्षुरादिग्राह्यत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्याऽऽह नैनद्देवा इति । चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनोव्यापारपूर्वकत्वा[15]त्तदविषयत्वे [16]चक्षुरादिविषयत्वमप्यात्मनो न [17]संभवतीत्यर्थः । [18]मनसो वा कथं न विषय आत्मेत्यत

मुक्त हो जाते है, क्योंकि वे आत्यघाती नहीं हैं । वह आत्मतत्त्व किस प्रकार का है? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है कि "जो कम्पनादि क्रियारहित, एक, अत्यन्त गतिशील, मन से भी अधिक वेगवाला, इस सर्वत्र व्यापक आत्मतत्त्व को आजतक चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्राप्त न कर सकी हैं । काल एवं वा वादि अत्यन्त वेग से भागने वालों को भी यह आत्मा अतिक्रमण कर जाता है, उसी आत्मा में सर्व प्राणियों का क्रियारूप-हिरण्यगर्भ प्राणियों के कर्मों का आधान करता है।'

परिच्छिन्न वस्तु में ही कम्पनादि क्रियायें होती हैं, व्यापक में नहीं । आत्मा व्यापक तथा एक

---

१. अनुवर्तनादनुसरणादाध्यासिकतादात्म्यादिति यावत् । २. संकल्पेनेति—तद्विषयकसंकल्पनमेव तस्य तत्र गमनं न तु तेन देहाद्बहिर्निर्गन्तव्यमिति भावः । ३. तस्मिन्मनसि ब्रह्मलोकादीन्द्रुतं गच्छति सतीति—अत्रेदमवधेयम्-जीवदशायान्तु दूरस्थब्रह्मलोकादीनां संकल्पनमेव मनसस्तत्रगमनम् । मरणादूर्ध्वं तु देहान्निर्गत्यापि तस्य तद्भवतीति स्वर्गादिगामित्वव्यवस्था सुस्था दृष्टिसृष्टिसिद्धान्ते तु संकल्पमात्रमेव सर्वं न क्वचिन्निर्गमनगमनादि तथ्यमिति ।
४. प्रथमं प्राप्त इवेति—ब्रह्मलोकादीन् संकल्पयतो मनसः साक्षित्वेन भासमानश्चैतन्यप्रकाशः प्रथमं प्राप्त इव भातीत्यर्थः । तस्य गत्यादिरूपप्राप्तेरभावादिवेत्युक्तम् । ५. देवाश्चक्षुरादीनीति—ननु प्रसिद्धा इन्द्रादयो देवाः कुतस्त्यज्यन्ते मनः संनिधानादिति गृहाण । ६. न प्राप्तवन्त इति—न विषयीकर्तुं शक्नुवन्तीति यावत् ।
७. अत्रैव हेतुं वक्तुमाह—तेभ्य इत्यादि । ८. मनसो जवीयस्त्वे हेतुमाह—मनोव्यापारव्यवहितत्वादिति । एतदेव व्याकृतं टीकायां चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनोव्यारपूर्वकत्वादिति । ९. नैवदेवानामिति—मनस्त्वव्यवहितत्वादात्माभासं गृह्णात्यपि शुद्धं चेत् मनसैवेदमाप्तव्यं मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादि श्रुतेरिति भावः । १०. जवनादिति—वेगशीलादित्यर्थः । वेगार्थाज्जुधातोः "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः पा० ३।२।१५०।" इति ताच्छीलिकः कर्तरि युच् । ११. ऋषीगताविति नौदादिकाल्लङ् व्यत्ययो बहुलमिति व्यत्ययेन शब्विकरणः । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपीत्याडभाव इत्यभिप्रेत्यार्षत्पदं व्याकरोति-पूर्वमेवगतमिति । १२. बहिर्गमना योग्यत्वादिति—इदं च जीवद्दशायामेवेति मन्तव्यम् । तत्र हि मनसो देहान्निर्गमने देहः काष्ठोपलादिवच्छून्य एवापद्येतेति भावः । ननु देहान्तःस्थानामपि नाडिसंचारिणां रक्तादिधातूनां वेगवत्त्वं चिकित्साशास्त्रे प्रसिद्धं तत्राह बहिरिति । १३. ननु देहान्तःस्थानां कफादिधातूनां बहिर्गमनमपि सुव्यक्तं तत्राह—कथं वेगवत्त्वमिति ।
१४. चक्षुरादिग्राह्यत्वं प्राप्तमिति—तथा च चक्षुरादिग्राह्यत्वादेवाश्वादिवदेव नानेजत्वमेकत्वं वा संभवतीति भावः ।
१५. तदविषयत्व इति—मनोऽविषयत्व इत्यर्थः । गृह्णदप्यात्माभासं मनो न तं प्रकाशयतीति तस्य तदविषयत्वमिति भावः । १६. चक्षुरादीति—नह्यग्रेसरागम्येऽनुचरगमनं दृष्टमिति भावः । १७. न संभवतीति—रूपादि रहितत्वाच्चेत्यपि बोध्यम् । १८. मनसो वेति—अत्यन्ताव्यवहितत्वान्मनोविषयत्वेन तु भवितव्यमित्येवं वितर्कार्थोऽयं वा शब्दः । "वा स्याद्विकल्पोपमयोर्वितर्के पादपूरणे" इति मेदिनी ।"

हैं। इस वाक्य से श्रुति आत्मा में न केवल निर्विकारत्व बतला रही है अपितु जीवाणुत्व तत्व तथा जीवनानात्ववाद का खण्डन भी कर रही है। अपनी अवस्था से गिर जाना ही कम्पन है। आत्मा की अपनी अवस्था से कभी प्रच्युति नहीं होती, क्योंकि वह सदा एकरस है। अतएव उसे कूटस्थ कहा गया है। सूक्ष्म शरीरादि उपाधियों को लेकर उसे नरकगामी तथा स्वर्गगामी कह दिया जाता है। निरुपाधिक आत्मा में गमनागमनादिस्थूल शरीर का धर्म, सुख तथा दुःखादि सूक्ष्म शरीर का धर्म कुछ भी नहीं है। उपाधियों को लेकर ही संकल्प-विकल्परूप वेगबाले मन से भी अधिक वेगवाला आत्मा को बतलाया गया है। एक ही आत्मा में अत्यन्त निश्चलत्व एवं मन से भी अधिक वेगवत्त्व ऐसे विरुद्ध धर्मों का कथन कैसे कर रहे हो ? ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक तथा सोपाधिकरूप से दोनों ही धर्मों की उपपत्ति हो जाने के कारण उक्त दोष नहीं माना जा सकता। इन दोनों में निरुपाधिकत्व आत्मा का अपना रूप है। अतएव निरुपाधिकरूप से अनेजत्व तथा एक उसे श्रुति कह रही है। एवं सङ्कल्प-विकल्पात्मकमनरूप उपाधि के अनुवर्तन करने से आत्मा को गतिशील माना गया है। इस देह में स्थित मन का अत्यन्त दूरस्थ ब्रह्मलोकादि में सङ्कल्प से ही क्षणमात्र में गमन होता है, इसलिये मन को अत्यन्त वेगवाला कहा गया है। ऐसे तीव्र गतिवाले मन के ब्रह्मलोक में जाने पर आत्म-चैतन्य का भाव वहाँ भी होता है। मानो आत्मा मन से भी अधिक वेगवाला होने के कारण मन से भी अधिक वेगवाला होने के कारण मन से पहले ही ब्रह्मलोक में पहुंच गया है। अतः मन से अधिक वेगवाला आत्मा को श्रुति में कहा गया है।

इस देह में स्थित मन को अत्यन्त दूर देश ब्रह्मलोक में जाना कहा गया है, यह तो अत्यन्त असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि मन के निकल जाने पर देह मृतप्राय हो जायेगा? ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सङ्कल्प मात्र से ब्रह्मलोक में मन का जाना कहा गया है, स्वरूपतः नहीं।

यदि अश्वादि की भांति वेगवाला आत्मा है तो आत्मा इन्द्रियों का विषय हो जायेगा ? इस शंका का समाधान श्रुति स्वयं ही कर रही है कि 'सर्वव्यापक आत्मा को चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी प्राप्त न कर सकीं, जो कि दिव्य स्वभाववाली है; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार मन के अधीन है। इन्द्रियों से श्रेष्ठ तथा तीव्र वेग वाला मन है। ऐसे मनोव्यापार के बाद ही इन्द्रियों में व्यापार होता है। जब मनोव्यापार का ही विषय आत्मा न हो सका, तो इन्द्रियों के व्यापार का विषय कैसे होगा ? आत्मा का आभास मात्र भी चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ तो बाह्य भूत-भौतिक पदार्थ को ही ग्रहण कर सकती हैं प्रत्यगात्मा को नहीं। अतः आत्मा में चक्षुरादि इन्द्रिय-ग्राह्यत्व नहीं है। आत्मा आकाश की भांति सर्वत्र व्यापक होने से कहीं भी मन के जाने पर वहां वह पूर्व से प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। आत्मा सर्वव्यापक, सुख-दुःख जन्म-मरणादि सम्पूर्ण संसार धर्मों से रहित है तथा निरुपाधिक स्वरूप से निर्विकार है। फिर भी औपाधिक आत्मा सम्पूर्ण जन्ममरणादि सांसारिक विकार अज्ञानियों की दृष्टि से अनुभव करता हुआ प्रतीत होता है, एक होता हुआ भी मूढ़ पुरुष को अनेक के समान प्रतिशरीर भिन्न२ प्रतीत होता है। इस बात को श्रुति बतला रही है कि यदि आत्मा से भिन्न मन, वाणी एवं इन्द्रियाँ इत्यादि अत्यन्त द्रुतगति से भागें, फिर भी आत्मा उसका अतिक्रमण कर जाता हुआ-सा दिखायी पड़ता है। यद्यपि श्रुति में स्वार्थक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि 'तिष्ठत्' और 'धावत्' ऐसे परस्पर विरोधी शब्दों का प्रयोग कर श्रुति इवार्थ को स्वयं ही बतला रही है। आत्मा स्वयं निर्विकार है ऐसा उक्त ग्रन्थ का तात्पर्य समझना चाहिए। उस नित्य-चैतन्य-स्वभाव-आत्मा के रहने पर अन्तरिक्ष में भ्रमण करनेवाला सबके प्राणों का भरण-पोषण करने-वाला वायु प्राणियों के सम्पूर्ण व्यापाररूप कर्म को धारण करता है। अन्तरिक्ष में विचरने वाले वायु को

गतम् । [1]व्योमवद्व्यापित्वात् । [2]सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासत इत्येतदाह—तद्धावतो द्रुतं गच्छतोऽन्यानात्मविलक्षणान्मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येत्यतीत्य[3] गच्छतीव[4]। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति—तिष्ठदिति । स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः । तस्मिन्नात्मतत्त्वे[5] सति नित्य[6]चैतन्यस्वभावे

आह—यस्मादिति । [7]यथा मनस्थं परिमाणं मनसो न विषयोऽत्यन्ताव्यवधानात्तथाऽऽत्माऽप्यत्यन्ताव्यवधानान्मनसो न विषयस्तद्व्यापकत्वाच्चेत्यर्थः । [8]उक्तात्मसंभावनायोपपत्तिमाह—तस्मिन्नात्मतत्त्वे-सतीति । श्रौतानि कर्माणि सोमाज्यपयःप्रभृतिभिरद्भिः संपाद्यन्त इति संबन्धाल्लाक्षणिकोऽप्शब्दः

को मातरिश्वा कहते हैं। वह आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दो रूप से पिण्ड और ब्रह्माण्ड में काम कर कर रहा है।

स्थूल, सूक्ष्म शरीर जिसके आश्रित हैं अथवा जिसमें ओतप्रोत हैं जिसे सूत्र एवं हिरण्यगर्भादि नाम से भी बतलाया गया है, वही सूत्रात्मा सम्पूर्ण संसार को धारण कर रहा है। अग्नि का प्रज्वलन तथा दहन, सूर्य का तपन एवं प्रकाश, बादलों का अभिवर्षण इत्यादि समष्टि-व्यापार सूत्रात्मा के नियन्त्रण में ही हो रहे हैं। यदि वह सूत्रात्मा समष्टि-व्यापार का प्रवर्तक नहीं होता, तो यह अग्नि आदि अपने स्वभाव को छोड़ बैठते। जिस प्रकार शरीर के किसी अंग से प्राण का सम्बन्ध हट जाने पर वह अंग क्रियाशून्य हो जाता है। शरीर में रक्त का संचार एवं शरीर तथा इन्द्रियों की प्रत्येक चेष्टायें अध्यात्म वायु से संचालित है। उसके बिना यह सब गतिशून्य हो जायेंगे। वैसे ही

१. पूर्व गतत्वे हेतुमाह—व्योमेति-आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति श्रुतेः। २. पुर्वार्धार्थं संक्षिपन्नुत्तरार्धमवतारयति-सर्वव्यापीत्यादिना। ३. अतीत्यगच्छतीवेति—तैरगृह्यमाणत्वादिति भावः। "यन्मनसा न मनुते;" "यद्वाचानभ्युदितमित्यादि" श्रुतेः। ४. नन्विव शब्दस्य मन्त्रे प्रयोगाभावेऽपि कुतस्तदर्थलाभ इत्यपेक्षमाणं तल्लम्भकं लम्भयति—इवार्थमित्यादिना—। ननु विरुद्धमपि वेदोक्तत्वादेवोभयमेव तथ्यं किं नेति चेच्छृणु नहि वेदोक्तत्वमेव तथ्यत्वे प्रयोजकं तर्हि तात्पर्यवद्वेदोक्तत्वमितरथाऽऽदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तर इत्येवमादिवेदोक्तस्यापि तत्त्वं स्यात्। किं च न खलु विरुद्धार्थप्रतिपादको वेद, उन्मत्तप्रलापवदप्रामाण्यापत्तेः। किं तर्हि अतथ्यमनूद्य तथ्यप्रतिपादनाय हि स इति मन्तव्यम्। अथ गच्छतीति तथ्यं तिष्ठदित्यतथ्यमित्येव किं न स्यादिति चेन्न। लोकसिद्धस्यैवानुवाद्यत्वादतथ्यत्वमेव गमनादिविक्रियायाः। तदसिद्धस्यैव च प्रतिपाद्यत्वं तिष्ठदित्यस्य ध्यायतीव लेलायतीवेत्यादिस्फुटतरश्रुत्यन्तरानुरोधेन तत्रैव तात्पर्यावगमाच्चेत्यलम्। अस्त्यैवायमपरः संक्षेपमार्गस्तथाहिविरुद्धयोः स्थितिगत्योस्तथ्ययोरेकत्र युगपदसम्भवेनान्यतरत्रैवार्थान्वयस्यावश्यकत्वेऽपि तिष्ठदिवेत्येवजायतां, जायतां च तत्रात्येतीत्येव गमकं वैपरीत्ये तु का नाम विनिगमनेति चेन्न। प्रतीयमानेनैवार्थेनेवार्थोऽन्वेति नाप्रतीयमानेनेत्यस्यैव गमकत्वात्। प्रतीता हि गतिरतथा च स्थितिरिति। ५. तदधिकरणकमप्कर्मकं मातरिश्वकर्तृकं वर्तमानकालिकं धानमिति यथाश्रुतार्थस्य बाधितत्वेनासम्भवाद्व्याचष्टे-तस्मिन्नात्मतत्त्वे सतीति। ६. अनित्यचित्त्वानां देहादीनां नित्यचैतन्याधीनचेष्टाकत्वदर्शनादतोऽन्यदार्तमिति च हिरण्यगर्भादीनामप्यनित्यत्वावधारणादर्थापत्त्यैव तस्मिन्नित्यश्रायमर्थलाभ इत्याशयेनाह-नित्यचैतन्यस्वभाव इति। ७. तद्व्यापकत्वादिति—नहि गृहमणिर्ब्रह्माण्डमपि प्रकाशयिष्यतीति भावः। नन्वखिलमप्रकाशयन्नपि दीपः स्वप्रभावच्छिन्नं तत्प्रकाशयत्येव तद्वदप्रकृतेऽपि भविष्यतीति चेन्न तत्रात्यन्ताव्यवहितत्वस्य तत्राभावादेवेति गृहाण। ८. ननु मनश्चक्षुरादिभिरज्ञेयमपि वस्त्वस्तीति कुतः संभाव्येतेत्याशङ्क्य तत्संभावकमवतारयति-उक्तेत्यादिना।

मातरिश्वा [1]मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा[2] वायुः [3]सर्वप्राणभृत्क्रियात्मको [4]यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि [5]यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च यत्सूत्रसंज्ञकं [6]सर्वस्य जगतो विधारयितृ स मातरिश्वा। अपः कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि। अग्न्यादित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति [7]विभजतीत्यर्थः। [8]धारयतीति वा। [9]भीषाऽस्माद्वातः पवत इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वा हि कार्यकारणादिविक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे [10]सर्वास्पदभूते सत्येव भवतीत्यर्थः ॥४॥

कर्मसु [11]प्राणचेष्टायाश्चाब्निमित्तत्वप्रसिद्धेः[12]। कारणवाचकः शब्दः कार्ये [13]लक्षणया प्रयुक्त इत्यर्थः। ईश्वरस्यापि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्याऽधिष्ठाता परमेश्वरः संभाव्यत इत्युक्तमिदानीं मातरिश्वग्रहणमुपलक्षणा[14]र्थमादाय तात्पर्यमाह—सर्वा हीति ॥४॥

समष्टि जगत् में सूत्रात्मा के बिना ब्रह्माण्ड के सारे व्यापार अनियंत्रित हो जायेंगे। अतः समष्टि-व्यष्टि जगत् में मातरिश्वा पद वाच्य वायु ही प्राणियों के कर्मों का विभाग और धारण करता है। तभी तो अन्य श्रुति भी बतला रही है कि इसी के भय से वायु चलता है, सूर्य तपता है, मृत्यु नियत समय पर प्राणान्त करती है। ऐसे हिरण्यगर्भ जिस नित्यचैतन्य स्वभाव आत्मतत्त्व के साक्षित्व में जगत् की व्यवस्था करता है, उस आत्मा का वास्तविक स्वरूप इस मन्त्र में बतलाया गया है। स्थूल, सूक्ष्म पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के क्रिया कलाप उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अधिष्ठान नित्य चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व

---

१. मातर्यन्तरिक्ष इति—निरुक्तेऽपि नैघण्टुकाण्डे पूर्वषट्के २ अ. २ पा. ४ ख. "य ईं चकार न सो अस्य वेद, य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् स मातुर्योनौ परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश" इति मन्त्रे वर्षकर्मपरनैरुक्तव्याख्याने मातुर्योनाविरयत्र माताऽन्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन्भूतानीत्युक्तम्। २. मातरिश्वावायुरिति—श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन्विश्वप्सन्परिज्मन्मातरिश्वन्मघवन्निति। इत्युणादिसूत्रे धातोरिकारलोपेन कनिन्प्रत्ययान्तो मातरिश्वन् शब्दो निपातितः। निरुक्ते दैवतकाण्डे उत्तरषट्के ७अ. ७पा. ४ख. अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशोराजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम्। आदूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वापरावतः" इति मन्त्रे मातरिश्वावायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसितिमातर्याश्वनितिवेत्युक्तम्। ३. नात्र लोकप्रसिद्धवायुमात्रं ग्राह्यं किं तर्हि तदुपाधिको हिरण्यगर्भ इत्याशयेनाह—वायुःसर्वेत्यादि। सर्वेषां प्राणभृतां याः क्रियास्तदात्मकः क्रियासमष्टिरूप इत्यर्थः। "वायुरेवव्यष्टिर्वायुःसमष्टि" रिति श्रुतेः। ४. यदाश्रयाणीत्यादि—सहोवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं, वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्चलोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति। तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति। वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीति श्रुतिरत्रानुसंधेया। ५. किं भूतलाश्रयकघटवन्नेत्याह—यस्मिन्निति। ६. किं शरीरमात्राधारएवायं नेत्याह—सर्वस्यजगतोविधारयित्रिति। अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। प्र. इत्यादि श्रुतेरिति भावः। ७. धातूनामनेकार्थत्वप्रसिद्धेः प्रकृतोपयोगिनमर्थमाह—विभजतीति। ८. धारयतीति—स्वयमेवाग्न्यादिरूपः सन्नित्यर्थः। ९. श्रुत्यन्तरमत्रसंवादयति—भीषेति। भीषा = भयेन, अस्मात् = अस्य। १०. नहि कार्यादिवं पृथग्भातीत्यत आह—सर्वास्पदभूत इति। नह्यग्न्याद्यधिष्ठितपयःक्रियायां कार्यमिव भाति वह्निस्तद्वत्।

११. नन्वेवमपः कर्माणि श्रौतानीत्येव व्याख्येयम। प्राणिनां चेष्टालक्षणानीति तु कुतोऽत आह—प्राणेत्यादि। १२. प्रसिद्धेरिति—आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति श्रुतेश्चेत्यपि बोध्यम्। १३. लक्षणयाप्रयुक्त इति—निरुक्तनिघण्टौ तु द्वितीयाध्यायारम्भे अपः; अप्नः; दंसः; इत्यादिपठितत्वा इति शड्विंशतिः कर्मनामानीत्युक्तम्।

१४. उपलक्षणार्थमिति—प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनेति भावः।

न मन्त्राणां जामिताऽस्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—तदेजतीति। तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः। किंच तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूर इव। तत् उ[1] अन्तिक इति

[2]जामिताऽऽलस्यम्। व्यापित्वाद्बाह्यतोऽस्ति निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तश्चेदस्ति [3]तर्हि निरन्तर-

के रहने पर ही होते हैं, यही इस मन्त्र का तात्पर्य है। इस मन्त्र में आये हुए अप शब्द का अर्थ कर्म समझना चाहिये, क्योंकि श्रौत-स्मार्त सभी कर्म सोमरस, घृत एवं दुग्धादिरूप जलप्रधान द्रव्य से सम्पन्न होते हैं। अतएव कर्म अर्थ में अप शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है ॥४॥

श्रुति भगवती के मन्त्रों में आलस्य नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त मन्त्र से कहे हुये अर्थ को पुनः पञ्चम मन्त्र से भी बतला रही है कि 'वह आत्मतत्त्व चलता भी है और निरुपाधिकरूप से नहीं भी चलता है। वही अत्यन्त दूर में और निकट में भी है, किम्बहुना इस वर्तमान सम्पूर्ण संसार के भीतर तथा बाहर भी वही है।' जिस आत्मतत्त्व का प्रसङ्ग चल रहा है, उसी को 'तत्' पद से मन्त्र में बतलाया गया है। वह आत्मा उपाधियों का आश्रय लेकर मूर्तरूप से चलता है, गतिशील प्रतीत होता है, किन्तु स्वतः अपने निरुपाधिकरूप से चलता नहीं है, अर्थात् स्वतः अचल होता हुआ भी उपाधि के कारण चलता सा प्रतीत होता है। जिस पकार जल में प्रतिबिम्बित अम्बुस्थ सूर्य निष्कम्प एवं अचल होता हुआ भी जलरूप उपाधि की ओर ध्यान देने वाले अविवेकियों को सूर्य हिलता सा प्रतीत होता है। ठीक वैसे ही निष्क्रिय-विशुद्ध चैतन्य भी अविवेकी देहात्मदर्शियों को क्रियाशील प्रतीत होता है। ऐसा आत्मा अज्ञानियों के लिए सौ करोड़ वर्षों में भी प्राप्त न होने के कारण अत्यन्त दूर में है, किन्तु विवेकशील आत्मतत्त्वदर्शियों की दृष्टि में प्रत्यगात्मारूप होने के कारण अत्यन्त समीप में भी वही है। इस सम्पूर्ण संसार के भीतर अन्तरात्मा रूप से वही विद्यमान है। ऐसा अन्य श्रुतियों में भी बतलाया गया है। यथा 'जो आत्मा सबके भीतर' इत्यादि जगत्, नाम, रूप एवं क्रिया भेद में विभक्त है, किन्तु इस अनेक भागों में विभक्त आत्मा व्यापक होने से आकाशवत् सम्पूर्ण संसार के बाहर भी है, एवं

१. निपात एकाजित्यादि प्रगृह्यप्रकृतिभावबाधेन मयउञोवोवेतिवत्वं दर्शयितुं पदानि छिनत्ति तदिति। पदच्छेदः पदार्थोक्तिरित्यादि हि व्याख्यान लक्षणमाचक्षत इति। २. जामिताऽऽलस्यमिति—नन्वालस्यं चेतनावतां धर्मो मन्त्राणां च शब्दसमुदायरूपाणां चेतनावत्त्वाभावेनाऽऽलस्याप्रसक्तेर्नाप्रसक्तं निषिध्यत इति नियमाच्च न मन्त्राणां जामितास्तीति रिक्तं वच इति चेन्मैवम्। मन्त्राणामिति मन्त्रपदेन तपोभिर्विधूततमास्तद्द्रष्टालक्ष्यः। कुतस्तस्यालस्यं तत्रापि मन्त्रस्फोरको भगवान् स्वयंभूस्तस्य तु कुतस्तरां तदित्यभिप्रायात्। अतएव पुनराहेत्यपि संगच्छते। तदुक्तं—युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयं मुवेति। जामिताशब्दस्यालस्यार्थकत्वे तु मूलमन्वेष्यं यतो जैमिनीये "अजामिकरणार्थत्वाच्च"। १०।८।६३। इति सूत्रे शाबरभाष्ये "जामि वा एतद्यज्ञस्यक्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति विष्णुरुपांशुयष्टव्योऽजामित्वायेत्यादि वचनान्युदाहृत्य जामिसादृश्यमिति पुरोडाशयोश्च सादृश्यदोष उच्यत इत्याद्युक्तनिरुक्तनैगमकाण्डे पूर्वषट्के ४ अ. ३पा. ४ख आघातागच्छानुत्तरायुगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिमत्" इति मन्त्रे जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा समानजातीयस्यैवेत्युक्तम्। तत्र दुर्गाचार्यश्च व्याचख्यौ बालिशो मूर्खः स हि बाल इव शेते प्रमादित्वाद्धर्मकार्येष्विति। तथा च बालिशपर्यायो जामिशब्दः प्रकृतेत्वलसे भाक्त इत्येव वा मन्तव्यम्। ३. तर्हीति—व्यापित्वबाह्यत्वादिनाधर्मवत्त्वे सतीत्यर्थः।

च्छेदः। तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषा[1]मात्मत्वान्न केवलं दूरेऽन्तिके च। तदन्तरभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य। य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य जगतो [2]नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादा[3]काशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्तः। प्रज्ञानघन एवेति च शासनान्निरन्तरं[4] च॥५॥

[5]मेकरसं न [6]स्यान्मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—प्रज्ञान घन एवेति॥५॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण भीतर भी है। आत्मा प्रज्ञानघन स्वरूप ही है, ऐसा अनुशासन होने के कारण अन्तर्बाह्य भाव से शून्य निरन्तररूप में देश, काल वस्तु परिच्छेद से शून्य एकरस आत्मा है। इनमें भी व्यापक होने से पिण्ड-ब्रह्माण्ड के बाहर है तथा निरतिशय सूक्ष्म होने के कारण भीतर भी है। अतः आत्मतत्त्व निष्क्रिय, निर्विकार, निरन्तर सर्वत्र विद्यमान है॥५॥

१. आत्मत्वादिति—आत्मत्वेनज्ञातत्वादिति यावत्। २. नामेत्यादि—त्रयं वा इदं नामरूपंकर्मेति हि त्रिष्वेव नामादिषु जगतः संक्षेपः श्रूयत इति भावः। ३. आकाशवदिति—सूक्ष्मत्वेन व्यापकत्वेन च हेतुनोभयत्र दृष्टान्तः। ४. निरन्तरं चेति—व्यापित्वबाह्यत्वादिकं सर्वमुपाधिदृशैवोच्यते। कथंचित्तत्वप्रबोधनाय वस्तुतः प्रज्ञानघनमात्रमेव न तु नानारूपमिति यावत्। ५. निरन्तरत्वमेव व्याकरोति—एकरसमिति। एकरूपमिति यावत्। ६. न स्यादिति—यतः क्वचिद्व्यापित्वावच्छेदेन बाह्यत्वं तदवच्छेदेनैव व्यापित्वम्। एवं क्वचित्सूक्ष्मत्वावच्छेदेनान्तरत्वं तदवच्छेदेनैव च सूक्ष्मत्वमित्येवं नानारसत्वस्यैव सम्पन्नत्वादेकरस्ये च प्रमाणाभावादित्यर्थः।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो नविजुगुप्सते ॥६॥

[जो (परिव्राट् मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण भूतों में भी अपने आत्मा को ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही (किसी से घृणा नहीं करता ॥६॥]

यस्तु । यः परिव्राड्मुमुक्षुः सर्वाणि भूतान्यव्यक्तादीनि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यत्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थः । सर्वभूतेषु च तेष्वेव चाऽऽत्मानं तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन यथाऽस्य देहस्य कार्यकरणसंघातस्याऽऽत्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षि-

उक्तात्मज्ञानस्य फलं विधिनिषेधातीतजीवन्मुक्तस्वरूपेणावस्थानमित्याह—यस्त्विति ॥६॥

अभेद आत्मदर्शी की स्थिति

पूर्वोक्त आत्मज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति विधिनिषेध से ऊपर उठकर जीवन्मुक्त हो जाता है, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष का लक्षण आगे के मन्त्र से बतलाया जा रहा है।

जो मोक्षाभिलाषी एवं मुक्त-पुरुष जड-चेतन सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है तथा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।

मन्त्र में आया हुआ 'तु' शब्द संसार दृष्टि परित्याग के लिये कहा गया है।

परिव्राजक मुमुक्षु अव्यक्त से लेकर तरुगुल्मादि-स्थावर पर्यन्त सम्पूर्ण भूतों को स्वयं ज्योति सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मा में ही देखता है, अर्थात् आत्मा से भिन्न अन्य वस्तुओं को नहीं देखता, क्योंकि आत्मा में सम्पूर्ण भूत कल्पित है और कल्पित वस्तु की अधिष्ठान से पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। अतः आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण भूतों को न देखकर आत्मस्वरूप ही देखता है तथा सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है। जिस प्रकार कार्य कारण संघातरूप इस देह का आत्मा में हूं, सभी अन्तः-करण की वृत्तियों का साक्षी, सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान करने वाला केवल तथा निर्गुणस्वरूप हूं। वैसे

तेनत्यक्तेनेत्युक्त त्यागवन्तमेव यच्छब्दः परामृशतीत्यभिप्रायेण व्याचष्टे यः परिव्राड् मुमुक्षुरिति । २. भवन्ति सत्त्वेन प्रतीयन्त इति भूतानीति व्युत्पत्तिमभिप्रेत्य भूतपदं व्याकरोति—अव्यक्तेत्यादिना । एतेनाव्यक्तस्यानादित्वात्कथं भूतपदवाच्यत्वमित्यपास्तम् । ३. भूतले घटादिवदात्मनि भिन्नत्वेन भूतानां दर्शने प्रयोजनाभावात् । यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदिति वाक्यशेषाच्चाभेदार्थैव सप्तमीत्यभिप्रायेण व्याख्याति—आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीति । ४. पूर्वार्धेन भूतानामात्माभेदं व्याख्याय तृतीयपादे विवक्षितं प्रतिभूतं भिन्नत्वेन भासमानानामात्मनां वास्तवाभेदं व्यनक्ति—तेषामपीत्यादिना । न च सर्वभूतेष्वित्येषापि सप्तम्यभेदार्थैव भविष्यति सर्वभूताभिन्नं चात्मानमनुपश्यतीति, इति शङ्कितव्यम् । भूतान्यात्मैवाभूदिति वाक्यशेषादेव । तत्र हि भूतानामात्मनाऽभेद एवानूद्यते नत्वात्मनोऽपि भूतैरिति स न विवक्षितः श्रुत्याऽन्यथा तस्याप्यनुवादं कुर्यादेवेति । आत्मत्वेनानुपश्यतीत्यनुषङ्गः । ५. स्वात्मनः सर्वभूतात्मत्वेन दर्शनं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथाऽस्येत्यादिना । ६. अस्येति—मुमुक्षुदेहो निर्दिश्यते । ७. देहस्येत्यस्यैव व्याख्यानं कार्यकरणसंघातस्यति । स्वपदानि च वर्णन्त इति हि भाष्यलक्षणम् । ८. अस्य देहस्यात्माऽहमित्युक्तमेतद्देहात्मत्वमेव स्फुटयति—सर्वेत्यादिना । यथैतद्देहे जायमानानां सर्वेषां प्रत्ययानामन्तःकरणवृत्तीनां साक्षिभूतोऽहमस्मि चेतयिता चास्यदेहस्य चेष्टयिता ।

भूतश्चेतयिता केवलो[1] निर्गुणोऽनेनैव स्वरूपेणाव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवाऽऽत्मेति सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं निर्विशेषं[2] यस्त्वनुपश्यति[3] स[4] ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति । प्राप्त[5]स्यैवानुवादोऽयम् । सर्वा[6] हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यद्दुष्टं पश्यतो भवत्यात्मानएवात्यन्त[7]विशुद्धं निरन्तरं[8] पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्त[9]मेव । ततो न विजुगुप्सत इति ॥६॥

ही सम्पूर्ण भूतों में अन्तरात्मारूप से अपने आपको ही देखता है। इस रूप से अव्यक्त से लेकर तरुगुल्मादिस्थावर पर्यन्त सभी भूतों का आत्मा मैं ही हूं, ऐसे निर्विशेष आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में देखता है। अतएव इस विशुद्ध दर्शन के प्रभाव से सर्वात्मदर्शी, तत्त्वनिष्ठ जीवन्मुक्त-पुरुष किसी से घृणा नहीं करता। घृणा तो अपने आप से भिन्न दुष्ट वस्तु को देखने पर होती है। अत्यन्त विशुद्ध बाह्य एवं आभ्यन्तर भेदरहित केवल अद्वितीय आत्मा को देखने वाले पुरुष की दृष्टि में घृणा का कोई निमित्त ही नहीं रह जाता। यह उसका स्वभाव ही बन जाता है। श्रुति तो उसके स्वभाव का 'ततो न विजुगुप्सते' इस वाक्य से अनुवाद मात्र कर रही है।

'ईशावास्यमिदम् इस मन्त्र से सर्वत्र ईश दृष्टि का विधान किया गया है। ऐसा सर्वत्र परमेश्वर दृष्टि वाला सर्वात्मदर्शी अपने विशुद्ध आत्मा में जड़-चेतन सम्पूर्ण संसार को अध्यस्त देखता है, इसे इस मन्त्र के पूर्वार्ध से बतलाया गया है।

इस मन्त्र के तृतीय पाद से नैरात्म्य वाद का निराकरण करते हुए सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठानरूप से वर्तमान आत्मा का दर्शन बतलाया गया है। यथा कल्पित सर्प अपने अधिष्ठान रज्जु से भिन्न नहीं होता, अतएव रज्जु में सर्प को कल्पित जानने वाला पुरुष अधिष्ठान रज्जु से पृथक् सर्प की सत्ता नहीं

---

१. केवलो वस्तुतः साक्षित्वादिधर्मरहितः निर्गुणो ज्ञानेच्छादिगुणनिर्मुक्तः इत्येवं शोधितं त्वंपदार्थं स्वदेहात्मत्वेन पश्यति तथैव सर्वभूतात्मत्वेनापीत्याह—अनेनैवस्वरूपेणेति । एतद्देहवर्तिना साक्षित्वादि घटितस्वरूपेणेत्यर्थः । तथा चौपाधिकैः सुखित्वादिधर्मैर्विभेदे भासमानेऽपि नैतत्तात्त्विक मैक्यदर्शनं प्रतिहन्यत इति भावः । २. निर्विशेषमिति—साक्षित्वादिनैकरूपमित्यर्थः । ३. यस्त्वनुपश्यतीति—पुनर्यच्छब्दोपादानमन्वयप्रदर्शनार्थम । आचार्यमुखादीशावास्यमित्याद्युपदेशश्रवणानन्तरमित्यनुशब्दार्थः । ४. यस्त्वित्युक्तयच्छब्दस्य तच्छब्दापेक्षणात्समध्याहरति-स इति । ५. ननु प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्तीत्यत्र यथा ये प्रतितिष्ठा सन्ति त एतारात्रीरुपेयुरिति रात्रिसत्रं विधित्स्यते तथा यस्तु सर्वाणि भूतानीत्यत्रापि विजुगुप्सानिवृत्तिकामो निरुक्तदिशाऽऽत्मदर्शनं कुर्यादिति विधिरेव विवक्ष्यते तथाच ईशावास्यमित्यादयोमन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ता इत्यसङ्गतं भाषितं विधेयस्य कर्मत्वानपायादित्याशङ्कां रुणद्धि-प्राप्तस्यैवानुवादोऽयमिति । यथाऽग्नौ हिमनिवर्तकत्वस्य लोकतः प्राप्तत्वादग्निर्हिमस्य भेषजमित्यनुवादे हिमनिवृत्तिकामोऽग्निं प्रज्वालयेदिति कल्प्यमानो विधिर्न कल्पते तद्वत् निमित्तापाये नैमित्तिकापायस्य लोकतः प्राप्तत्वात्तदनुवादेऽत्रापि विधिगन्धो न जिज्ञासितव्यः कर्मकाण्डवासनयेति साधूक्तमीशेत्यादिमन्त्रा न कर्मसु विनियुक्ता इति । ६. प्राप्तस्यैवानुवादोऽयमित्युक्तं तत्र किं केन कथं प्राप्तमित्येतद्विशदयन्नाह्-सर्वाहीत्यादि-अन्यत्राऽप्यदुष्टे न घृणेति दुष्टमिति दुष्टेऽप्याभिन्ने न घृणेत्यन्यदिति । तथा च घृणाऽऽत्मान्यत्वदुष्टत्वदर्शनयोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चितस्य कार्यकारणभावस्यान्यथाऽनुपपत्त्यैवान्यत्वादिदर्शनाभावे घृणाऽऽभावः प्राप्नोतीति भावः । ७. आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धमिति—एकाभावेऽपि घृणाऽभावः सुतरान्तूभयाभाव इति भावः । ८. निरन्तरमविच्छिन्नमित्यर्थः । ९. इतिप्राप्तमेव ततो नेत्यादि—ततो नेत्यादि नोच्यमानो घृणाऽभावोऽर्थापत्त्यैव प्राप्तइत्यन्वयः ।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

[जिस काल में अथवा जिस आत्मा में (परमार्थतत्त्व के दर्शन हो जाने से) तत्त्वदर्शी के लिये सम्पूर्ण भूत आत्मा ही हो गये, उस समय या उस आत्मा में एकत्व देखनेवाले को, क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। (ये तो आत्मा को न जानने वाले को ही हुआ करते हैं) ॥७॥]

---

[1]इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह–यस्मिन्सर्वाणि भूतानि । [2]यस्मिन्काले [3]यथोक्तात्मनि वा ता[4]न्येव भूतानि सर्वाणि परमा[5]र्थात्मदर्शनादात्मैवाभूदात्मैव संवृत्तः पर[6]मार्थवस्तु विजा-

---

मानता है, उसी तरह ब्रह्म-चैतन्य में कल्पित माया तथा उसके कार्य अपने अधिष्ठान ब्रह्म से भिन्न नहीं है एवं अध्यास काल तथा अध्यास निवृत्ति काल में भी अधिष्ठान का सामान्य अंश देखता ही है। यथा सीप में रजत भ्रम के समय सीप का सामान्य अंश 'इदम्' रूप से दीखता है, उसी में कल्पित रजत ओतप्रोत है, वैसे ही चैतन्यात्मा में जड़-चेतन सभी भूत ओतप्रोत हैं, इसी को आत्मा में सम्पूर्ण भूतों का देखना कहा गया है, एवं सम्पूर्ण भूतों में अधिष्ठान का अंश तादात्म्य होकर देखने के कारण उसे सम्पूर्ण भूतों में आत्मदर्शी कहा गया है। इस प्रकार निर्विशेष चैतन्यात्मा में सम्पूर्ण भूतों को कल्पित देखने वाला तत्त्वदर्शी कैसे किसी से घृणा कर सकता है ? क्योंकि घृणा का तो कोई निमित्त ही नहीं रह जाता। अतः निर्विशेष चैतन्य आत्मा मैं हूं, इस प्रकार आत्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर स्तुति-निन्दा से शून्य होजाता है ॥६॥

उक्त अर्थ को ही अन्य मन्त्र भी बतला रहा है कि जिस काल अथवा जिस आत्मा में परमार्थ-दर्शन हो जाने के कारण सम्पूर्ण भूतों को आत्मरूप से ही जानता है, उस समय एकत्वात्मदर्शी पुरुष को क्या शोक और मोह हो सकता है ? अर्थात् नहीं होता।

त्रिविध दुःख के संसर्ग से शून्य निरतिशय परमानन्दस्वरूप आत्मा को न जानने वाले के मन में ही 'हाय ! मैं मर गया, मुझे पुत्र नहीं, मुझे घर-ऐश्वर्यादि नहीं ?' इस प्रकार शोक हुआ करता है। अतः अपने में अभाव देखने वाला पुरुष पुत्रादि की कामना करता है। तदर्थ देवता-आराधना भी करना चाहता है, किन्तु आत्मैकत्वदर्शी को शोकादि नहीं होते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से शोक-मोह अविद्यामूलक हैं, ऐसा निश्चय हो जाने के बाद अविद्या की निवृत्ति दशा में शोक मोह की आत्यन्तिक निवृत्ति स्वाभाविक है। यही ब्रह्म-विद्या का फल है। इसलिये श्रुति कहती है कि 'जिस काल में अथवा जिस आत्मा में ऐसा परमार्थ-ज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे सम्पूर्ण स्थावर जङ्गमभूत उस तत्त्वदर्शी के लिये आत्मरूप से ही दीखने लगे, ऐसे परमार्थ तत्त्वदर्शी पुरुष में या परमार्थ दर्शन काल में कैसे शोक और मोह हो सकता है ?' यह तो काम-कर्म के बीज को न जानने से होते हैं, तथा उन्हीं के ऊपर यह अपना प्रभुत्व दिखाते हैं, विशुद्ध आकाशवत् सर्वव्यापक अद्वितीय

---

१. इममेवेति–अत्राप्यालस्याभावादित्युक्तमनुसन्धेयम् । न च मन्त्रद्रष्टुरेव धर्मो मन्त्रेपूपचर्यत इति बोध्यम् । वस्तुतो दुरधिगमतत्त्वस्य पुनः पुनर्वचनं भूषणमेवेति रहस्यम् । २. अतिगहनस्य तत्त्वस्य झटित्येव बुद्ध्यारोहाभावमभिप्रेत्याह—यस्मिन्कालइति । ३. अधिकारिदौर्लभ्यं वा यस्मिन्निति विवक्षितमित्याशयेनाह—यथोक्तात्मनीति । अनेजदित्यादिना रूपेणावगत आत्मनीत्यर्थः । ४. तानि=अव्यक्तादीनि । ५. सर्वात्मभावाप्तौ ज्ञानातिरिक्तसाधनाभावं सूचयति—परमार्थेति । ६. जीवात्मत्वं सर्वोऽजानात्यत आह—परमार्थेति ।

नतस्तत्र तस्मिन्काले तत्राऽऽत्मनि वा को मोहः कः शोकः। शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजमजानतो भवति न त्वात्मैकत्वं विशुद्धं गगनोपमं पश्यतः। को मोहः कः शोक इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रदर्शनात्सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥७॥

निरतिशयानन्दस्वरूपमत एव दुःखास्पृष्टमात्मानमजानतः शोको भवति हा हतोऽहं न मे पुत्रोऽस्ति न मे क्षेत्रमिति। ततः पुत्रादीन्कामयते "तदर्थं देवताराधनादि चिकीर्षति न त्वात्मैकत्वं पश्य"तस्ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां शोकादेरविद्याकार्यत्वावधारणान्मूलाविद्या"निवृत्त्यैव शोकादेरात्यन्तिकी "निवृत्तिर्विद्याफलत्वेन विवक्षिता, लयमात्रस्य सुषुप्तेऽपि भावादित्याह—शोकश्च मोहश्चेत्यादिना ॥७॥

आत्मदर्शी को नहीं होते। 'क्या मोह और क्या शोक?' इस वाक्य से अविद्या के कार्य शोक एवं मोह का आक्षेप कर न केवल उनका असम्भवत्व दिखलाया गया अपितु कारण सहित सम्पूर्ण संसार का आत्यन्तिक उच्छेद भी दिखलाया गया है, जो आत्म-तत्त्वदर्शी के लिये स्वाभाविक है ॥७॥

१. शोकमोहनिवृत्याऽऽपाद्याया अविद्यानिवृत्तेर्निःशेषसंसारनिवृत्तिहेतुत्वसम्पत्तये तौ विशिनष्टि-कामेति। ते चाशेषसंसारस्येति भावः। २. अजानत इति—मोहस्यविपर्ययत्वपक्षेऽज्ञानत इत्यर्थः। अविद्यात्वपक्षे तु ज्ञानाभावादिति। तदा तु भवतीत्यस्याविर्तिष्ठत इत्यर्थः। अन्यदोत्पद्यत इति। ३. विवक्षितं विद्याफलं प्रकाशयति—को मोह इति। ४. अविद्याकार्ययोरिति—मोहस्याविद्यात्वपक्षे तस्याऽप्याविद्यकत्वात्तत्कार्यत्वम्। ५. असंभवप्रदर्शनात्सकारणस्येति—तदसंभवस्याविद्यानिवृत्तिं विनाऽसंभवादविद्याख्यकारणसहितस्येत्यर्थः। ६. अत्यन्तमेवेति - ननु सकारणस्येति विशेषणात्संसारोच्छेदवत्तत्कारणोच्छेदस्याप्यात्यन्तिकत्वं लभ्यते। तत्र कार्योच्छेदस्य तु कारणनिवृत्त्यैव, कारणोच्छेदस्य तु कुतस्तदिति चेत्कारणस्यानादित्वेन नाशादूर्ध्वमनुत्पादादिति गृहाण।

७. अविद्याकृतो विपर्ययो मोहपदार्थ इत्याशयेनाह—निरतीत्यादि। ८. अजानतः—दुःखित्वादिना विपर्यस्यत इति यावत्। अविद्यैव वा मोहशब्दार्थ इत्याशयेनेदम्। ९. ततः=निरुक्ताच्छोकादेव। १०. तदर्थम्= पुत्राद्यर्थम्। ११. पश्यतः शोको भवतीत्यनुषङ्गः। १२. निवृत्त्या—निवृत्तिनिमित्तेति यावत्।
१३. आत्यन्तिकी निवृत्तिरिति—निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं नाम स्वप्रतियोगिप्रागभावासमानकालीनत्वम्।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

[वह पूर्वोक्त आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक, शुद्ध, सूक्ष्म शरीर से रहित, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, धर्माधर्मादिपापवर्जित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ और स्वयंभू (स्वयं होने वाला) है ।उस नित्यमुक्त सर्वज्ञ ईश्वरने नित्य सिद्ध सम्वत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथायोग्य रीति से (यथाभूत कर्मफल और साधनों के अनुसार) अर्थों (कर्त्तव्यों या पदार्थों) का विभाग किया है ॥८॥]

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः-स पर्यगात्स-यथोक्त आत्मा पर्यगात्परि समन्तादगादगतवानाकाशवद्व्यापीत्यर्थः । शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणमक्षतम् । अस्नाविरं स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां

योऽयमिति । स्नु प्रक्षरणे धातुः । स्नावयन्ति शरीरमिति स्नावाः शिराः क्रान्तमतिक्रान्तं नष्टमित्युपलक्षणं भूतभविष्यद्वर्तमानदर्शी ॥८॥

पूर्वोक्त मन्त्र से जो आत्मा बतलाया गया है, वह आत्मा निजरूप से किस लक्षणवाला है, इसी को इस अष्टम मंत्र से बतलाया जा रहा है कि वह आत्मा व्यापक होने से आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है, तेजवाला होने के कारण शुद्ध है । सूक्ष्म शरीर से रहित है, उसमें किसी प्रकार का व्रण

१. वृद्धास्तावदुपनिषच्छैलीं परिवभणुः "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते इति" । तथैवात्रेशेत्याद्याद्यमन्त्रे सर्वेश्वरत्वेनात्मोक्तः । कुर्वन्निति द्वितीये कर्माधिकारित्वेन । असुर्या इति तृतीयेऽसुर्यलोकप्रापकज्ञानविषयत्वेन । एवमनेजदित्यादिमन्त्रद्वयेऽनेजत्त्वमेकं मुक्त्वाऽन्यत्सर्वमध्यारोपेणोक्तम् । यस्मिंस्त्वादिमन्त्रयोरप्यारोपसापेक्ष एव स उक्तः । सम्प्रतित्वपवादप्रक्रियया सपर्यगादित्याद्यर्धेन स वक्तव्यः कविरित्यर्धेन तु पुनरारोपेणैवेति मनीषयाऽवतारयति—योऽयमिति । २. स्वेनरूपेण किंलक्षण इति—किमस्य स्वं निरुपाधिकं रूपमिति यावत् । ३. आकाशवदिति—व्यापकत्वमात्रे दृष्टान्तो नत्वस्याकाशस्येव सापेक्षं व्यापकत्वमिति द्रष्टव्यम् । अपरिच्छिन्नत्वस्य विवक्षितत्वात् । ४. शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थ इति—यद्यपि शुक्रशब्दो निघण्टावुदकनामस्वर्ण इत्यादिषु पठितस्तथापि तस्यदीप्तिमत्त्वमेव यौगिकोऽर्थस्तथाहि तत्र व्याख्यातम्—"शुक्रम् शुचदीप्तौ निघ. १—१७" अस्मात् "ऋजेन्द्राग्रवज्रविप्र (३—२—२७)" इत्यादिना ककारान्तादेशो रप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते शोचते शुक्रः । यद्वा "शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः" निघ. १—१७ सम्पदादित्वात् (३—२—९५वा) क्विप् । शुचि तद्यस्य रोमत्वर्थीयः दीप्तिमित्यर्थ इति । ५. अकायमित्यनेन स्थूलदेहनिषेधेऽव्रणमस्नाविरमित्यवक्तव्यं स्यादतो व्याचष्टे—लिङ्गशरीरवर्जित इति । ६. अस्नाविरमिति—स्नावाशब्दात् पिच्छादित्वेन मत्वर्थीय इलचि, नञ्समासोरलयोरभेदेन रत्वश्रुतिरितिभावः । ७. अप्रसिद्धत्वात् स्नावाशब्दं नाडीषु व्युत्पादयितुमाह—स्नु प्रक्षरण इत्यादि । ८. स्नावयन्तीति क्षरतिर्गतिकर्मा तदर्थकस्य स्नुधातोर्ण्यन्तत्वे गतिबुद्धीत्यादिना द्विकर्मकत्वेन शरीरमिति प्रयोज्यं कर्मगौणम् । मुख्यं तु रक्तादिधातूनित्यवगन्तव्यम् । शरीरं हि नाडीद्वारा रक्तादिधातून् प्रक्षरतीति प्रसिद्धम् । द्वारतया हेतुत्वेन च नाडीनां प्रयोजकत्वमिति भावः । ९. क्रान्तशब्दस्य भूतार्थकत्वात्तन्मात्रदर्शिनः कथं सर्वदृक् तत्राह-क्रान्तमित्यादि ।

[1]स्थूलशरीरप्रतिषेधः । शुद्धं निर्मलम[2]विद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः । अपापविद्धं [3]धर्माधर्मादिपापवर्जितम् । [4]शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन [5]परिणेयानि स[6] पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारात्[7] । कविः [8]क्रान्तदर्शी

नहीं है, स्नायु इत्यादि स्थूल शरीर के अवयव उसमें नहीं है, वह निर्मल एवं पाप-पुण्य से रहित है। सर्वदृष्टा, मन का भी शासक होने से सर्वज्ञ है। सर्वश्रेष्ठ, स्वयम्भू, नित्यमुक्त, सभी वस्तुओं की यथार्थ स्थिति को जानने वाला उस आत्मा ने प्रजापति शासक-वर्गों को भी उनके पूर्व क्रमानुसार कर्तव्य कर्म का विधान कर रखा है।

जो पदार्थ व्यापक होता है वह किसी उपाधि से वस्तुतः परिच्छिन्न नहीं हो सकता। यथा आकाश व्यापक है। यद्यपि उसकी परिच्छिन्नता उपाधि की दृष्टि से भले ही हो जाय, अर्थात् घटाकाश, मठाकाश, ऐसा व्यवहार भले ही होता रहे फिर भी उससे उसकी व्यापकता में आँच नहीं आ पाती। वैसे ही आकाश तथा उसके कारण माया में भी व्याप्त होने के कारण आत्मा निरपेक्ष व्यापक है। अतः सभी ओर से सर्वत्र गया हुआ प्रतीत होता है। सूर्य के समान स्वयं प्रकाश होने से उसे 'शुक्र' पद से कहा गया है।

यद्यपि 'अकाय' शब्द का अर्थ अशरीर होता है फिर भी 'अव्रणम्' 'अस्नाविरम्' इन दोनों विशेषणों के अनुरोध से अकाय पद का अर्थ सूक्ष्मशरीर से रहित करना चाहिये। घाव या स्नायु स्थूल शरीर में होते हैं। अतः जिसमें घाव नहीं है और जिसमें शिराएँ भी नहीं हैं, इन दोनों विशेषणों से

---

१. अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां व्रणादिराहित्य प्रतीतेस्तच्छालिस्थूलदेहत्वेव प्रतिषिध्यते न तु तद्वत्त्व्यारेका तिरयति-आभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेध इति। आभ्यां विशेषणाभ्यामिति शेषः। वस्तुतः स्थूलदेहसंसर्गे हि अपापविद्धमिति विरुध्येतेति भावः। अत्रेदं बोध्यम् अव्रणमित्येतावत्युक्ते व्रणरहितस्यापि स्थूलदेस्यहदर्शनान्न स निवर्त्येत। व्रणो-ह्याघातादिजन्यं छिद्रं न स्वाभाविकमतोऽस्नाविरमिति तावत्युक्ते मत्कुणादिदेहेषु स्नावाद्यनुपलम्भात्स्नावादिर-हितमपि शरीरं सम्भाव्येतातोऽव्रणमिति। स्नावादिशून्यमत्कुणादिदेहानां व्रणानर्हत्वासम्भवान्नास्य तथाविधो वस्तुदेहो भवतीति। २. उभयविधदेहशून्यस्य मलान्तराप्रसक्तेराह—अविद्येत्यादि।

३. धर्माधर्मादिपापेति—धर्मस्यापि जन्माद्यनर्थहेतुत्वाविशेषात् पापत्वव्यपदेश इति बोद्धव्यम्। ४. शुक्रमित्यादी-नित्यादि—केचित्तु स आत्मा शुक्रं ब्रह्म पर्यगात् परिगच्छति अकायमित्यादि क्लीबकदम्बकं शुक्रविशेषणमित्या-चक्षते तदनर्हम्—शुक्रप्राप्तिद्वारा शुक्रत्वादिविवक्षाऽपेक्षया साक्षाच्छुक्रत्वाद्युक्तौ लाघवात्। व्यापकत्वोक्त्य-लाभाच्चेति ध्येयम्। ५. परिणेयानीति—छन्दसि लिङ्गव्यत्ययस्य "व्यत्ययो बहुलमिति" सूत्रे, "सुप्तिङुपग्रह-लिङ्गनराणा" मित्यादिनोक्तत्वादिति बोध्यम। ६. तत्र हेतुमाह—स इति। यथा प्रयाजाङ्गयोर्मध्ये विहितमभिक्रमणं प्रयाजाङ्गं संदंशपतितन्यायात् तथा पुंलिङ्गमध्ये स्थितानां पुल्लिङ्गत्वमिति भावः। प्रयाज प्रकरणे हि "समानयते जुह्वामुपभृतस्तेजोवा" इत्यादिना प्रयाजानुवादेनोपभृदाख्याद्भुतपात्रविशेषाज्जुहूपात्रे प्रयाजार्थ घृतानयनरूपमङ्गं विधाय "यस्यैवं विदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भातृव्यांस्तुदतेऽभिक्रा मञ्जुहोत्यभिजित्यै" इति शत्रुविजयार्थमभिक्रमणं होमकालीनं होतुर्विधीयते। तदनु च यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेदेत्यादिना प्रयाजयुगलवेदनात्मकं प्रयाजाङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये विहितमभिक्रमणं प्रयाजाङ्गमिति स्थितं पूर्वतन्त्रे। ७. उपसंहारादिति—उपक्रमोपसंहारोक्तसजातीयेनैव भवितव्यं मध्यवर्तिनेति भावः।

८. कविःक्रान्तदर्शीति—कविः क्रान्तदर्शनो भवति। कवतेर्वा (निरुक्ते १२-१३) इति भाष्ये क्रामतेः कवतेर्वा गतिकर्मण इति रूपम्—इति स्कन्दस्वामी।

सर्वदृक् । [1]नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिश्रुतेः । मनीषी मनस [2]ईषिता [3]सर्वज्ञ [4]ईश्वर इत्यर्थः । परिभूः सर्वेषां [5]पर्युपरि भवतीति परिभूः । स्वयंभूः स्वयमेव भवतीति [6]येषामुपरि भवति [7]यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः । स[8] [9]नित्यमुक्त [10]ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद्यथातथा भावो याथातथ्यं तस्माद्य[11]थाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान्कर्त[12]व्यपदार्थान्व्यदधाद्विहितवान्यथानुरूपं [13]व्यभजदित्यर्थः । शाश्वतीभ्यो [14]नित्याभ्यः समाभ्यः संवत्सराख्येभ्यः [15]प्रजापतिभ्य इत्यर्थः ॥८॥

स्थूल शरीर का निषेध किया गया है । शुद्ध अर्थात् निर्मल–मल से रहित वह आत्मा है, ऐसा कह कर कारण शरीर का निषेध किया गया है। परमार्थ दृष्टि से धर्माधर्म दोनों ही कर्मफल भोगद्वारा बन्धन कारक होने से पापरूप ही है । इन सभी धर्माधर्म से रहित होने के कारण 'अपापविद्ध' कहा गया है । यहाँ पर यह भी स्मरण रहे कि इस मंत्र में 'स' इस पुंल्लिङ्ग पद से उपक्रम करके 'कविर्मनिषी' इस पुंल्लिङ्ग पद से ही उपसंहार किया गया है । अतः इन दोनों के मध्यपाती जितने भी नपुंसकलिङ्ग वाले विशेषण हैं उन सभी को पुंल्लिङ्गत्वेन समझना चाहिये ।

कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी होता है । 'जो भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान कालीन सभी पदार्थोंका द्रष्टा है [इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं] इत्यादि श्रुति भी आत्मा में सर्वद्रष्टत्व बतला रही है। सच्चिदानन्दरूप से सभी पदार्थों में परिव्याप्त होने के कारण उसे 'परिभूः' कहते है, पुनः ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ़ होकर ब्रह्म को आच्छादन करनेवाली अविद्या को तिरस्कृत कर देता है । इसलिये भी उस आत्मा को परिभूः' कहते हैं ।

आत्मा को 'स्वयम्भूः' कहा गया है, क्योंकि कारणान्तर की अपेक्षा न कर आत्मा का अस्तित्व स्वयं विद्यमान रहता है । वस्तुतः जिन वस्तुओं में सच्चिदानन्द है और अपनी सत्ता, स्फूर्ति दे रहा है, उन वस्तुओं के अधिष्ठानरूप से विद्यमान है । अत एव उसे 'स्वयम्भूः' कहा गया है । वह परमेश्वर

---

१. नन्वात्मनः सर्वदृक्त्वे प्रतिदेहं तदनुभूयेत न चानुभूयत इत्यप्रामाणिकं तदित्यतः श्रुतिं प्रमाणयति—नान्य इति । नहि सर्वोपहितस्य सर्वदृक्त्वं देहाद्यवच्छेदेन प्रत्येतुं शक्यम् । राज्योपहिते राजत्वस्यान्यथा स्वप्नेऽननुभवादिति भावः । २. ईषितेति—ईषगतिहिंसादर्शनेष्विति धातोरिदम् ।
३. तत्र दर्शनमादायाह—सर्वज्ञ इति । सर्वज्ञानसाधनस्य मनसोऽपि द्रष्टा सर्वज्ञ इत्युचितमेव । ४. गतिहिंसेत्यादायाह—ईश्वर इति । योहि मनसो गमयिता हिंसको निरोद्धा च स तदीश्वरस्तदधीनस्य च सर्वस्यापीश्वर एवेति भावः । अत्र यः सर्वज्ञः सर्वविदितिवत्सामान्यविशेषाभ्यां सर्वदृक् सर्वज्ञ इत्यनयोरपौनरुक्त्यमिति भावः ।
५. निपातानामनेकार्थकत्वादाह—पर्युपरीति । ६. कीदृग् भवतीत्यत आह—येषामित्यादि । प्रजापत्यादिर्यच्छब्दार्थः । ७. यश्चेति—हिरण्यगर्भादिरित्यर्थः । ८. कविरित्यादिनोक्तमैश्वर्यं सफलयितुमाह—स नित्यमुक्त इत्यादि । ९. नित्यमुक्तः=अकायमित्याद्युक्तबन्धाभावः । १०. ईश्वरः=कवित्वादिमान् ।
११. यथाभूतेत्यादि—येन यादृशफलाय यादृशं कर्मोपासनं च कृतं तस्य तादृशफलभोगाय तादृशकर्मादिसाधनमनुसृत्येति यावत् । १२. कर्तव्यपदार्थानिति—पवनादिरूपानित्यर्थः । भीषाऽस्माद्वातः पवत इत्यादिश्रुतेः ।
१३. व्यभजदिति—अनेन समाभ्य इति तादर्थ्ये चतुर्थीति गम्यते । १४. नित्याभ्य इति—नित्यत्वमत्राऽऽभूतसंप्लवस्थायित्वरूपं बोध्यमतोन्यदार्त्तमिति श्रुतेः । १५. संवत्सरो वै प्रजापतिरितिश्रुत्याऽऽह—संवत्सराख्येभ्यः प्रजापतिभ्य इति ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया🙂 रताः ॥९॥

[जो अविद्या (केवल अग्नि होत्रादि कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल विद्या (देवउपासना) में ही रत हैं, वे मानों उससे भी अधिकतर घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥९॥]

अत्राऽऽद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता [1]प्रथमो वेदार्थः । ईशावास्यमिदं सर्वं मा गृधः कस्य स्विद्धनमि[2]त्यज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठा । संभवे कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदिति कर्मनिष्ठोक्ता [3]द्वितीयो वेदार्थः । अनयोश्च निष्ठयोर्वि[4]भागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः [5]सोऽकामयत

[6]प्रकरणविभागं [7]दिदर्शयिषुर्वृत्तमनुवदति—अत्राऽऽद्येनेति । [8]यदुक्तं भास्करेण सर्वाऽप्युपनिषदेकं [9]ब्रह्मविद्याप्रकरणं ततः प्रकरणभेदकरणमनुचितमिति । तदसत् । प्राणाद्युपासनविधान[10]स्याप्युपनिषत्सु दर्शनात् । न च [11]तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमिति वाच्यम् । [12]पृथक्फलश्रवणात् । [13]तेनापि[14] [15]व्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चयविधानस्य [16]प्रकरणभेदेनैवेष्ट[17]त्वाद्व्याकृताव्याकृतोपासनस्य [18]प्रकारान्तरत्वात्तस्माद्यथा कर्मकाण्डेऽग्निहोत्रादिप्रकरणं भिन्नमेवेष्यते भिन्नाधिकारत्वात्तत्तत्कर्मणस्तथोपनिषत्स्वपि

मुक्त है, तथा वस्तु को यथार्थरूप से जानता है, इसलिये सर्वज्ञ भी है। अतः जिस प्राणी का जैसा कर्मफल तथा साधन है, तदनुमार सब किसी को कर्तव्यपदार्थरूप अर्थ का बिभाग करके दे रहा है।

ज्योतिष्टोमयागादि कर्म से ही स्वर्ग मिलता है, कृषि तथा वाणिज्यादि केवल उदर-भरनेवाले

१. प्रथम इति—फलत्वेन मुख्यतात्पर्यविषयत्वान्मुख्य इत्यर्थः । प्रथममन्त्रोक्तत्वरूपमपि प्रथमत्वं न जिहासितम् ।
२. इत्याद्यमन्त्रेणेत्यन्वयः । इत्येवं वाक्यघटितेनेत्यर्थः । ३. द्वितीय इति—साधनत्वेनावान्तरतात्पर्यविषयत्वादमुख्य इत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । ४. विभाग इति—भिन्नाधिकारित्वमितियावत् । ५. सः=अज्ञ आत्मा । ६. प्रकरणविभागमिति—द्वितीयमन्त्रभाष्यान्तोक्तस्य विभागञ्चानयोर्दर्शयिष्याम इत्यस्यावसरं लब्ध्वेत्यादिः । ईशावास्यमित्याद्यमन्त्रोक्तज्ञाननिष्ठाधिकारिणे वक्तव्यं ब्रह्मविद्याप्रकरणं सपर्यगादित्यष्टममन्त्रपर्यन्तम् । अथान्धंतम इत्याद्युपास्तिप्रकरणं कुर्वन्नित्युक्तकर्मनिष्ठाधिकारिणे वक्तव्यं भविष्यतीत्येवं प्रकरणविभागो द्रष्टव्यः । ७. दिदर्शयिषुरिति—दिदर्शयिषा चेयंवृत्तिकाराद्यभिमतसम्मुच्चय चिखण्डयिषयेत्यवगन्तव्यम् । ८. अत्र भेदाभेदवादिभास्करोक्तं तिरस्करोति—यदुक्तमित्यादिना । ९. ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति—तेन ज्ञानकर्मसमुच्चयस्याभिमतत्वेऽपि विद्याप्राधान्येनैव मुक्तिरिति ध्येयम् । १०. विधानस्येति—यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेदेत्येवमादिरूपस्येत्यर्थः ।
११. तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमिति—तथाचाङ्गाङ्गिनोरेकफलकत्वेन न तत्र प्रकरणविभागो विवक्षित इति भावः ।
१२. पृथक्फलश्रवणादिति—श्रूयते हि ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवतीत्येवमादिपृथक्फलमित्यतस्तयोरङ्गाङ्गिभावासम्भवात्तत्रापि प्रकरणभेद एव । १३. तेनापि भास्करेणापीत्यर्थः । १४. व्याकृतेत्यादि—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमित्यादिवक्ष्यमाणेत्यादि । १५. भास्करेणापि ज्ञानकर्मसम्मुच्चयप्रकरणात्केवलोपास्तिसमुच्चयप्रकरणं भिन्नमेवेष्यत इत्याह—तेनापीति । १६. प्रकरणभेदेनेति—ज्ञानकर्मसम्मुच्चयप्रकरणाद्भिन्नप्रकरणेनैवेत्यर्थः ।
१७. इष्टत्वादिति—इष्टीकर्तव्यत्वादिति यावत् । १८. प्रकारान्तरत्वादिति—ज्ञानापेक्षयोपास्तेर्विलक्षणस्वरूपत्वात् । शुक्रादिविशेषणकवेद्यब्रह्मस्वरूपापेक्षया तत्रोपास्यस्वरूपस्य च भिन्नत्वादिति यावत् । एतत्पक्षे तु प्रकरणभेदेनेत्यस्य ब्रह्मविद्याप्रकरणतो भिन्नेन प्रकरणेनेत्यर्थान्तरमवगम्यम् ।

व्यापारों से नहीं। इस बात का यथार्थ ज्ञाता होने के कारण प्रजापति को नित्य संवत्सर नाम से कहा गया है, क्योंकि क्षणमुहूर्त इत्यादि भेद से औपाधिकरूप में काल अनित्य है, किन्तु नित्य-सर्वज्ञ प्रजापतिरूप संवत्सर सभी प्राणियों के कर्मफल एवं उनकी साधना को यथार्थरूप से जानने के कारण शासन पद पर नियुक्त किये गये हैं। इस नित्य संवत्सररूप प्रजापति के लिये भी कर्तव्य-कर्म का विधान करनेवाला आत्मा ही है, यह सिद्ध हुआ ॥८॥

कर्म उपासना समुच्चय

ज्ञान तथा कर्म इन दोनों के प्रकरण-विभाग दिखलाने की इच्छा से पूर्वोक्त पदार्थों का सिंहावलोकन भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि यहाँ पर पहले मन्त्र से लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा इत्यादि सम्पूर्ण अनात्म वासनाओं के परित्याग से ज्ञान में निष्ठा बतलायी गयी है। यही 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' यहाँ से लेकर 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' यहाँ तक प्रथम मन्त्र का अर्थ बतलाया गया है, तथा जो अज्ञानी हैं, जिन्हें अनात्माभिमान के कारण जीने की इच्छा बनी हुयी है और मृत्यु के भय से भयभीत हैं, ऐसे जीवनाभिलाषी के लिये ज्ञान में निष्ठा सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके लिये 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस द्वितीय मन्त्र से कर्मनिष्ठा बतलायी गयी है। उक्त मन्त्रों से बतलायी गयी ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का विभाग न केवल इस ईशावास्योपनिषद् में बतला रहे हैं, अपितु बृहदारण्यक में भी बतलाया गया है। वहाँपर कहा है कि उसने कामना की मुझे पत्नी मिले तत्पश्चात् मैं सन्तति को उत्पन्न करूँ, मुझे धन मिले जिससे मैं शास्त्र विहित कर्म करूँ, इत्यादि मन्त्र से कामाभिलाषी अज्ञानी के लिये कर्म का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे कामनावालों को जब लोकप्रसिद्ध बाह्यजायादिक की प्राप्ति नहीं होती, तो उस समय श्रुति ने उसे अध्यात्म जायादि की प्राप्ति बतलाई है। यथा—'मन ही उसका अपना स्वरूप है और वाणी उसकी पत्नी है' इत्यादि।

मन इत्यादिक में आत्मत्व का अभिमान अज्ञान का कार्य है, उसके अज्ञानी होने में यह लिंग है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में कामुक पुरुष को कामिनी के न मिलने पर स्वयं मन में कामिनी की रचना कर उसका उपभोग करता हुआ देखा गया है, यह लोकप्रसिद्ध बात है। कर्मनिष्ठ व्यक्ति निश्चित अज्ञानी तथा कामी होगा ही। ऐसी कर्मपरायणता का फल संसार की प्राप्ति ही है। इसे भी बृहदारण्यक के सप्तान्न ब्राह्मण में सप्तान्न सर्ग के प्रसंग में बतलाया गया है। वहाँ पर कहा है कि 'जीव ने अपनी मेधा तथा तप से सात प्रकार की अन्न की सृष्टि की है। उनमें से हुत तथा प्रहुत अथवा दर्शपूर्णमास ऐसे दो अन्न देवताओं के हैं। एक लोकप्रसिद्ध व्रीहि, यव इत्यादि मनुष्यों का अन्न है। दुग्ध पशुओं का अन्न है। शेष मन, वाणी तथा प्राण ये तीन अन्नआत्मा के हैं।' इन सभी अन्नों में 'अहं, मम' अध्यास के कारण जीव का संसार बन गया है, किन्तु उसी बृहदारण्यकोपनिषद् में जायादि एषणात्रय के परित्याग से आत्मज्ञानियों के लिये कर्मनिष्ठा के प्रतिकूल आत्मस्वरूप में निष्ठा ही बतलायी गयी है। 'हम प्रजा से क्या करेंगे? क्योंकि हमें इस सर्वलोक अनुभव सिद्ध आत्मलोक का सम्पादन करना है' इत्यादि वाक्य से आत्मज्ञानियों के लिये प्रजादि सम्पूर्ण एषणाओं के त्यागपूर्वक आत्मनिष्ठा का ही प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार मन्त्र भाग से बतलायी गयी ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा में ब्राह्मण भाग बृहदारण्यक की सम्मति बतलाकर अब कर्म का विभाग कर दिखलाते हैं, कि जिन्हें ज्ञान में ही पूर्ण विश्वास है और जो संन्यासी हैं उनके लिये 'असूर्या नाम ते लोका' इत्यादिक मन्त्र से अज्ञानियों की निन्दा करके आत्मा के यथार्थ स्वरूप का चतुर्थादि अष्टम मन्त्रों के द्वारा उपदेश किया गया है। इन्हीं का ज्ञाननिष्ठा में अधिकार है, संसार के भोगों में आसक्त पुरुषों का

जाया मे स्यादित्यादिना । अज्ञ[1]स्य कामिनः कर्माणीति मन एवास्या[2]ऽऽत्मा वा[3]ग्जायेत्या-[4]दिवचनात् । अज्ञत्वं कामित्वं च कर्मनिष्ठस्य निश्चितमवगम्यते । तथा[5] च तत्फलं

भिन्नाधिकारत्वात्कर्मा[6]विरुद्धविद्याऽऽप्रकरणभेदो न[7] विरुध्यते । मन्त्रार्थे ब्राह्मण[8]संमतिं दर्शयितुमुपक्रमते—अनयोश्चेत्यादिना । तत्र वाक्ये [9]'कथमज्ञत्वमवगम्यत[10]' इत्याशङ्क्याऽऽह—मन एवेति । जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति कामयमानस्य [11]सर्वथैव बाह्या जायादिर्यदा न संपद्यते तदाऽध्यात्मजायादिसंपत्तिं[12] दर्शयति [13]एतच्चाज्ञत्वलिङ्गं मनआदिष्वात्मत्वाद्यभिमानस्याज्ञा[14]नकार्यत्वात् । यथा [15]च बाह्यकामिन्य[16]लाभे [17]सुप्तो मनो[18]-विजृम्भितकामिनीमुपभुञ्जानोऽज्ञः [19]प्रसिद्धस्त[21]द्वदयम[20]पीत्यर्थः । तेषां[22] च कर्मणां फलं संसाराग्नि-रेवेत्यपि तत्रैव दर्शितमित्याह—तथा चेति । [23]एकं साधारणमन्नं यदिदमद्यते द्वे देवानां हुत[24]प्रहुते दर्श-

---

१. अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति—अज्ञकामिसम्बन्धीनि कर्माणीत्यर्थः । सम्बन्धश्चाधिकार्याधिकारित्वरूपस्तथा चाज्ञकाम्यधिकारिकाणिकर्माणीति पर्यवस्यति । अज्ञस्य कामिन एव कर्मनिष्ठायामधिकार इति यावत् ।

२. आत्मा=स्वशरीरम् । ३. वाग्जायेत्यादीत्यादिना—प्राणः प्रजा, चक्षुर्मानुषं वित्तं, चक्षुषा हि तद्विन्दते, श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोति, आत्मैवास्य कर्म आत्मना हि कर्म करोति इत्यादेयम् । अत्रात्मा शरीरम् ।

४. इत्यादिवचनादज्ञत्वमित्यादि—अज्ञो हि काम्येवैवमनथाभूतैरर्थैः प्रलोभ्यते प्रसिद्धं हि क्षीरार्थं प्ररुदन्नकिंचनाशिशु-स्तथा सक्तुलवमिश्रेण पयसा प्रलोभ्यत इति । ५. तथा चेति—कर्मणामज्ञकामिकर्तृकत्वे चेति यावत् ।

६. कर्मविरुद्धेत्यादि—कर्माविरुद्धाविद्योपास्तिस्तद्विरुद्धा तु विद्या ब्रह्मज्ञानमिति विवेकः । ७. अविरुद्धविषयकत्वे हि प्रकरणभेदो न युज्यते । विरुद्धविषयकत्वे तु न्याय्य एव स इत्याशयेनाह—न विरुध्यत इति । नानौचित्यमावहतीत्यर्थः । ८. ब्राह्मणेति—ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्यानरूपत्वेन मन्त्रार्थनिर्णये प्रबलोपायत्वादिति भावः ।

९. कामित्वस्य सोऽकामयत इत्यनेनैव लब्धत्वादज्ञत्वं पृच्छति कथमज्ञत्वमिति । १०. अवगम्यत इति—तदवगमकाभावेन कामित्वमेव कर्माधिकार प्रयोजकं नत्वज्ञत्वमपि तथाचाज्ञस्य कामिनः कर्माणीत्यत्राज्ञस्येत्ययुक्तमिति भावः ।

११. सर्वथैव—बाह्यसाधनादिनेति यावत् । १२. संपत्तिमिति—बाह्यजायादिमन्तरेणात्मानमकृत्स्नं मन्वानस्य कृत्स्नता संपादिका सम्पदुपासनामित्यर्थः । १३. एतदिति=अतथाभूतेषुतथात्वानुभवनमिति यावत् ।

१४. अज्ञानकार्यत्वादिति—ननु शालग्रामशिलादौ विष्ण्वादि धीवत् प्रकृताभिमानस्य शास्त्रमात्राधेयत्वात्कथमज्ञानकार्यत्वमिति चेत्सत्यम् । शास्त्रमात्राधेयोऽप्यसावभिमानोऽज्ञानकार्यत्वं नातिक्रामति । तच्छास्त्रस्याज्ञमुद्दिश्यैव प्रवृत्तेः सोऽकामयतेति तदधिकारिणः कामित्ववचनात्कामोह्यज्ञत्वलिङ्गं ज्ञस्यतु "किमिच्छन्कस्यकामायेत्येवं कामाद्यभावश्रवणात् । "रागोलिङ्गमबोधस्ये"त्याद्यभियुक्तभाषिताच्च । तथा च कामादिप्रयुक्तशास्त्रप्रयुक्त-काम्यादिकर्मणः कामादिप्रयुक्तत्ववदज्ञानप्रयुक्तशास्त्रप्रयुक्तस्याभिमानस्याज्ञानप्रयुक्तत्वमेवेति भावः ।

१५. वस्तुतः कामित्वस्यैवाज्ञत्वलिङ्गत्वेऽपि कामस्य कार्यानुमेयतया तस्यैव स्पष्टीकरणाय कार्योक्तिरेवेयं मनएवास्या-त्मेत्यादिर्लिङ्गोक्तिरिति मत्वा प्रकृतकामिनोऽज्ञत्वं प्रसिद्धम् । कामिनं दृष्टान्तयति—यथा चेत्यादिना ।

१६. अलाभइति—सुप्तस्य तल्लिप्सा ध्वन्यते । १७. सुप्त इति तां ध्यायन्नित्यादिः । १८. मनोविजृम्भितां—मनःपरिणामरूपां वासनामयीमिति यावत् । १९. अज्ञः प्रसिद्ध इति—अज्ञत्वमस्य वस्तुतोऽकामिन्यामेव काम-प्रयुक्तकामिनीत्वधीमत्त्वात् । प्रसिद्धत्वं च तथाभोगकालीन प्रलापादिनेत्यर्थः । २०. अयमपि—सोऽकामयतेत्य-त्रोक्तः काम्यपि । २१. तद्वदज्ञइतियावत् । २२. ननु कर्मणामज्ञाद्यधिकारिकत्वेऽपि मुक्तिफलकत्वे तु ज्ञानेन समुच्चयो दुर्वारः । समानफलयोः समुच्चयसम्भवादित्यत आह तेषां चेति । अज्ञकामिकर्तृकाणामिति यावत् ।

२३. श्रुत्युक्तानि सप्तान्नानि व्याकरोति—एकमित्यादिना । २४. हुतप्रहुते इति—हुतमग्नौ हवनं प्रहुतं हुत्वा बलिहरणमित्यर्थः ।

सप्तान्नसर्गस्तेष्वात्मभावेनाऽऽत्मस्वरूपावस्थानं जायाद्येषणात्रतसंन्यासेन चाऽऽत्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनाऽऽत्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इत्यादिना । ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनस्तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणाऽऽत्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृता न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टमित्यादि विभज्योक्तम् । ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त

पूर्णमासौ वा त्रीण्यस्य भोगसाधनानि मनोवाक्प्राणलक्षणानि पश्वर्थमेकं तत्पय इति सप्तान्नसर्गो दर्शितः श्रुत्या यत्सप्तान्नानि "मेधया तपसाऽजनयत्पिते"त्यादिना । "अत्रैकैको" यजमान एव विहितप्रतिषिद्धज्ञान"कर्मानुष्ठानात्सर्वस्य संसारस्य साक्षा"त्पारम्पर्याभ्यां जनकत्वात्पितोच्यते । तेषु च सृष्टेष्वन्नेषु तस्य पितुरहमिदं ममेदमित्यात्मत्वाध्यासेन मनआदिष्वितरेषु च संबन्धाध्यासेनावस्थानं संसारः प्रसिद्ध इत्यर्थः । एवं मन्त्रप्रदर्शिते निष्ठाद्वये ब्राह्मणसंमतिं दर्शयित्वा "प्रकरणविभागं दर्शयति ये तु ज्ञान-

---

नहीं । इसी को श्वेताश्वेतर उपनिषद् में विभाग करके कहा गया है कि 'उत्तमाश्रमी संन्यासी के लिये ऋषि-समुदाय से संसेवित परम-पवित्र ब्रह्मात्मतत्त्व को ऋषि ने बतला दिया ।' ऐहिकामुष्मिक भोगों से सर्वथा उपरत ऋषि लोग केवल आत्मस्वरूप परमात्मा का ही भजन और सेवन करते हैं । जो आत्मा अविद्या एवं उसके कार्य से सर्वथा अलिप्त होने के कारण परमपवित्र है, इसी आत्मतत्त्व

---

१. कर्मनिष्ठायां मन्त्रेण ब्राह्मणं संवाद्य ज्ञाननिष्ठायां तेन तत्संवादयति—जायादीत्यादिना । अत्रापि किं प्रजया करिष्याम इत्यादिवाक्यानुरोधात्पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणेत्येवमेवैषणात्रयं प्रसिद्धम् । तथापि जाया मे स्यादिति कर्मनिष्ठावाक्ये जायैषणान्तर्भावात् जायाद्येषणेत्याद्युक्तमिति ध्येयम् । २. कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनेति—कर्मनिष्ठातः प्रतिकूला विपरीतेति यावत् । ३. तदाह—आत्मस्वरूपनिष्ठैवेति—आत्मन्येव स्वरूपत्वेनावस्थानं न कर्मनिष्ठानामिवसप्तस्वन्नेष्विति भावः । ४. किं प्रजेति—प्रजापदमत्र वित्तलोकयोरप्युपलक्षणं येषां नोऽयमात्मेत्यादि लिङ्गात् तथा चैषणात्रयसंन्यासोऽत्र विवक्षित इति बोध्यम् । ५. अयमात्माऽयं लोक इति अयं नित्यसंविहितोऽशनायाद्यतीत आत्मैवायं लोकः—पुरुषार्थ इत्यर्थः । ६. संन्यासिभ्य एवोपदिष्टत्वे हेतुमाह—ते हीति । ७. तत्र च प्रमाणमाह—तथा चेति । ८. श्वेताश्वतराणामिति—तच्छाखिनामित्यर्थः । ९. अत्याश्रमिभ्य इति—तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वानित्यादिः ।

१०. परमं पवित्रमिति—आत्मयाथात्म्यमित्यर्थः । तद्विषयं ज्ञानं वा परमं पवित्रम् । नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यत इति स्मृतेः । ११. ऋषिसंघजुष्टम्—ऋषिगणसेवितम् । १२. विभज्येति—अत्याश्रमिभ्य इत्यनेन ज्ञाननिष्ठाधिकृतान्संन्यासिनः कर्मनिष्ठाधिकृतेभ्यो गृहिभ्यः कामिभ्योऽज्ञेभ्यः पृथक्कृत्येत्यर्थः । अधिकारिभेदोपदर्शनेन निष्ठां भित्त्वेतिवार्थः । १३. येत्विति—तावता ज्ञाननिष्ठाप्रकरणं परिसमाप्येत्यादिः ।

१४. नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति न्यायेन कर्मित्वस्य साधारण्यादाह—कर्मनिष्ठा इति । तत्रैव बद्धश्रद्धा इत्यर्थः । १५. श्रद्धाञ्च तेषां विशिष्टाक्रियैवाभिव्यनक्तीत्याशयेनाह—कर्म कुर्वन्त एवेत्यादि । १६. मेधया—विहितप्रतिषिद्धोपासनाज्ञमेधा । कर्म तु तथा भूतमन्त्रतपः १७. इत्यादिना वक्येनेति शेषः । १८. श्रुतिघटकपितेत्येतद्व्याकरोति—अत्रेत्यादिना । अत्र—श्रुतौ । १९. एकैको यजमान इति—सर्वोऽपि कर्मठ इति यावत् । २०. ज्ञानम्=उपासनम् । २१. साक्षात्पारम्पर्याभ्यामिति—यथा पुत्रं प्रति साक्षात्, पौत्रं प्रति तु पारम्पर्येण । यद्वा भोक्तृवर्गस्य नियन्तृसापेक्षभोगानुकूलकर्मभिर्हिरण्यगर्भं प्रति साक्षात्तद्द्वारचाशेषसंसारं प्रतिजनकत्वम् । हिरण्यगर्भेऽप्येवमेवयथासंभव मूहितव्यम् । २२. प्रकरणम्—अलत्यम् ।

एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—अन्धं[1] तम इत्यादि । कथं[2] पुनरेवमवगम्यते न तु सर्वे-षामित्युच्यते—'[3]अकामिनः साध्य[4]साधनभेदोपमर्देन यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्वि-जानतः । तत्र[5] को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति यदात्मैकत्वविज्ञानं तन्न केन-चित्कर्मणा[6] ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषति । इह[7] तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादि-निन्दा क्रियते । तत्र[8] च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते ।

निष्ठा इत्यादिना । अत्याश्रमिभ्य इति । [10]उत्तमाश्रमिभ्य इत्यर्थः । [11]साध्यसाधन[12]भेदोपमर्देन यदात्मैक-त्वविज्ञानं यस्मिन्सर्वाणि भूतान्या[13]त्मैवाभूदित्यवधारणेनोक्तं पूर्वार्धेनोत्तरार्धेन च [14]संसारनिवृत्तिफल-कमुक्तं तन्न श्रौतेन [15]स्मार्तेन वा कर्मणा केनचिदमूढः[16] समुच्चिचीषति । [17]अन्धं तम इत्यादौ तु [18]समुच्चि-चीषयाऽवि[19]द्वदादिनिन्दा[20] [21]दृश्यते । ततः किमित्यत आह—तत्र च यस्येति । [22]कस्य [23]तर्हि ज्ञानस्य कर्म-

---

का उपदेश उत्तमाश्रमी परमहंस परिव्राजकों के लिये ऋषि ने किया, किन्तु जो कर्मी है जिनकी कर्म में ही निष्ठा है और अनात्माभिमान के कारण यावज्जीवन अग्निहोत्रादि शास्त्रविहित-कर्म का अनुष्ठान करते हुये ही जीना चाहते है, उनके लिये कर्म के साथ उपासना का भी सम्मुचय का विधान करना इष्ट होने के कारण 'अन्धं तमः' इत्यादि मन्त्र से प्रसंग प्रारंभ किया जा रहा है ।

---

१. अन्धंतम इत्यादीति—उपासनोपसर्जन कर्मनिष्ठाप्रकरणमिति शेषः । २. कथं पुनरिति—कर्मनिष्ठेभ्य एवेदं प्रकरणप्रारम्यते न तु सर्वेभ्य इति तु कथमवगम्यमित्यर्थः । ३. न तु सर्वेषामिति—ज्ञाननिष्ठा कटाक्ष्यते—अकामिन इत्युत्तरात् । ४. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः । अथमर्त्योऽमृतोभवत्यत्तब्रह्मसमश्नुते । नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयादित्यादिश्रुतिस्वारस्या-दकामिन एवविद्यावतः सर्वात्मत्वावाप्तिरित्याशयेन श्रुतौ विजानत इत्यस्यापेक्षितं पूरयति—अकामिन इति । अकामिनो विजानत इत्यन्वयः । ५. आत्मैकत्वज्ञानस्य कर्मसमुच्चयधियं चिकित्सितु मन्त्रपूर्वार्धमर्मावलेहयति—साध्यसाधन भेदोपमर्देनेति । ६. उत्तरार्धमर्माभिज्ञोप्यसमुच्चयं ज्ञास्यतीत्याशयानस्तदपि भाषते—तत्रेत्यादिना ।
७. मा भूज्ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयो ज्ञानेन तु स संभवति साजात्यात् । अन्धंतम इत्यादौ च विद्याऽऽत्मैकत्व—विज्ञानमविद्याचोपासनात्मकं ज्ञानं विवक्षितमस्त्वित्येवं विपर्यस्यतोऽनुकम्पयाऽऽह—ज्ञानान्तरेणेति ।
८. ईशेत्यादितः प्रस्नुताऽसङ्गात्माऽऽकाशनिर्झरिणी विज्ञानमन्दाकिनी तावदसङ्गमेव केनचित्सपर्दगादिति ब्रह्मसागरं पर्यगात् । संप्रतित्वन्धमित्याद्यग्रे कश्चन संभेदोऽवलोक्यते । तदेतत्कतमत्तीर्थं भविष्यतीति विम्रष्टुमवकाशं करोति—इहत्वित्यादिना । ९. तत्र चेत्ति—अविद्वदादिनिन्दायाः समुच्चयविध्यर्थत्वे सतीत्यर्थः । १०. उत्तमाश्रमिभ्यः—संन्या-सिभ्य इति यावत् । ११. साध्यसाधनेत्यादिभाष्यमन्वयमुखेन व्याकरोति—साध्येत्यादिना । १२. साध्यसाधनभेदो-पमर्देनेति—साध्यं मुक्तिफलं ज्ञानकर्मसमुच्चयश्च तत्साधनमित्येवमादिभेदावगाहिधीबाधकमिति यावत् । १३. उक्त-भेदोपमर्दकत्वमात्मैकत्वविज्ञानस्य केनावगतं तदाह—आत्मैवाभूदित्यवधारणेनेति । १४. तथाविधमपिज्ञानं फलोत्पादने सहकारिसापेक्षमित्यपि मनोरथ मात्रमित्याशयेनाह—संसारेत्यादि । पूर्वार्धोक्तज्ञानमात्रस्यैव संसार-निवृत्तिफलकत्वमुत्तरार्धेनोक्तमित्यर्थः । १५. केनचिदित्येतदध्यापयति—श्रौतेन स्मार्तेन वेति । १६. अमूढ इति—यस्मिन्नित्यादिमन्त्रार्थमार्मिक इति यावत् । समुच्चिचीषंस्तु तदर्थमूढतां नातिगच्छतीति हृदयम् । १७. इहत्वि-त्यादेरर्थापयति—अन्धमित्यादिना । १८. समुच्चिचीषयेति—समुच्चयविधित्सयेति यावत् । सा हि यस्तद्द्वेदोभय१९स-हेत्यतः प्रभवति । १९. अविद्वदादीनि—कर्मित्वेसत्यनुपासकोऽविद्वच्छब्दार्थः । उपासीनस्सन्नकर्मीत्यादिशब्दार्थः ।
२०. निन्देति—निन्दाप्रशंसे हि वेदे विधित्सा कुमार्गगर्भिचारिके भवत इति भावः । २१. क्रियतेपदं विवृणोति—दृश्यत इति । २२. कस्येति—आत्मैकत्वविज्ञानोपासनयोः कतरस्येत्यर्थः । २३. तर्हि—संभवत्समुच्चय-कस्यैवेहोच्यमानत्वोपगमे ।

यद्दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं तत्कर्मसंबन्धित्वेनो[1]पन्यस्तं न परमात्मज्ञानम् । विद्यया

समुच्चयः संभवतीत्यत आह—यद्दैवं वित्तमिति । यच्चोक्तं [2]भास्करेणेशा वास्यमिति मन्त्रे ब्रह्मविद्यायाः प्रक्रान्तत्वात्तस्या एव समुच्चिचीषया निन्दोच्यत इति । तदसत् । [3]न हि प्रकृतमित्येतावता संबध्यते किं तु संबन्धयोग्यम् । शुद्धब्रह्मात्मैकत्वविद्यायास्तु कर्तृत्वाद्यध्यासोपमर्दकत्वान्नास्ति कर्मसंबन्धयोग्यता । [4]किंच यस्मिन्निष्पन्नेऽपि फलस्य [5]व्यवधानं संभाव्यते तस्यैव सहकारिसमुच्चय इष्यते [6]दर्शादेरिह त्वेकत्वमनुपश्यतः को मोहः कः शोक इत्येकत्वदर्शनसमकालमेव मोहादिनिवृत्त्यभिधानान्न कालान्तरीयफलम् । [7]ततो न सहकारिसमुच्चिचीषा । [8]किंचास्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणे ब्राह्मणा [9]विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादौ तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेरिष्यमाणवेदने करणत्वेन संबन्धः प्रतीयते । तत्कथं [10]दुर्बलेन प्रकरणेन [11]सहकारितया संबन्धः प्रकल्प्यते । प्रधानस्य च विद्यायाः सहकारिसंबन्धविधित्सया निन्देत्यप्ययुक्तम्[12] । [13]अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेतिसूत्रविरोधश्च[14] समसमुच्चयश्च [15]परेणापि नेष्यते । विरोधेन च [16]परिजह्रे तस्मात्कर्माविरुद्ध[17]देवताज्ञानस्यैवात्र [18]समुच्चयो विधित्स्यते । ननु देवताज्ञानस्य कर्मफलातिरिक्तफलाभावात्समुच्चयो [19]न संभवतीत्यत आह—विद्ययेति । ननु समुच्चिचीषया निन्देति

---

१. कर्मसंबन्धित्वेनोपन्यस्तमिति—कर्मणा समुच्चेतव्यत्वेन य उ विद्यायाᳪरता इत्यादौ विद्याशब्देन विवक्षितमिति यावत् । न च तस्यकर्मसंबन्धयोग्यत्वेऽपि प्रकृतोपनिषद्यप्रकृतत्वादयुक्तमुपादानं प्रकृतास्याप्ययोग्यस्येव योग्यस्याप्यप्रकृतस्य "अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यादावनुपादानदर्शनात्" । तत्र हि केनाक्ता इत्यपेक्षायां तैलादिनाऽक्तत्वसंभवेऽप्यप्रकृतत्वात्तन्नादीयते तेजो वै घृतमित्याद्यर्थवादवाक्ये च घृतस्यप्रकृतत्वेन तदेवोपादीयत इति शङ्कनीयम् । उपनिषदन्तरे प्रकृतत्वात्सर्वा चोपनिषदेकमेव ज्ञानकाण्डमिति राद्धान्तात् ।

२. न्यायतः शास्त्रतो वेत्येतद्विवरीतुकामो भास्करमेवाङ्गारावक्षयणं करोति शाकल्यमिव—यच्चोक्तं भास्करेणेति ।

३. नहीत्यादि—तथा सति ईदूदेद्द्विवचनमिति प्रकृतत्वविशेषादेकारोऽप्यदसोमादित्यत्र संबध्येतेत्याद्युदाहार्यम् ।

४. एकां युक्तिमुक्त्वाऽपरामाह—किंचेति । ५. फलस्य व्यवधानमिति—अनेन सहकारस्यावसरं दर्शयति ।

६. दर्शादेरिति—आदिना पौर्णमासस्तयोः समुच्चयात् । दर्शपौर्णमासयोर्हि समुच्चयोऽभ्युपेयते । ७. तत इति—ज्ञानफलयोः समकालत्वेन सहकारानवकाशादिति यावत् । ८. न्यायतः पराभिमतसमुच्चयासंभवमुपपाद्य-शास्त्रतस्तमुपपादयिष्यन्नाह—किंचास्या इति । प्रकृतोपनिषद्व्याख्यानभूते बृहदारण्यकाख्ये ब्राह्मणग्रन्थ इत्यर्थः । ९. विविदिषन्तीत्यत्र धात्वर्थं प्रधानीकृत्याह—इष्यमाणवेदेन इति । १०. दुर्बलेनेति—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसामाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादितिन्यायात्प्रकरणस्य श्रुत्यपेक्षया परत्वेन दुर्बलत्वमिति भावः । ११. सहकारितयेति—नहि साधनकरणं फले साधनसहकारि भवति । घटकरणस्य दण्डस्य जलाहरणे घटसहकारित्वादर्शनादिति भावः । १२. इत्यप्ययुक्तमिति—अनिन्द्यत्वप्रधानत्वयोः समानाधिकरणत्वासंभवादिति हेतुं गर्भयित्वा प्रधानस्य चेत्युक्तम् । १३. तत्रैव सूत्रविरोधं समुच्चिनोति—अत इति । ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वादेव मोक्षफले स्वस्वाश्रमविहितकर्मापेक्षानस्ति शुक्तिज्ञानस्येव रजतभ्रमनिवृत्ताविति । ३–४–२५ ब्र.सूत्रार्थः । अत्राग्नीन्धनादिशब्देन कर्माणि लक्षितानि । १४. ननु प्रधाननिन्दया प्रधानाप्रधानयोः समुच्चयासंभवे समप्रधानयोरिवविद्याकर्मणोः समुच्चयो भवतु तत्राह—समसमुच्चयश्चेति । १५. परेणापि—समुच्चयवादिनाऽपि । १६. न केवलं नेष्यते किन्तु परिहृतोऽपि सविरोधधिया तेनात्मग्रन्थाभास इत्याह—विरोधेन च परिजह्र इति । ग्रन्थाभासस्यावलोकनमप्याभास एवेतिकृत्वा लिटं प्रायुङ्क्त । यद्वा सिद्धान्तिभिरेव स परिहृतो ज्ञानकर्मणोर्विरोधमुपदर्शयद्भिरुपमर्दं चेत्यादि सूत्रेणेत्यर्थः । श्रुतियुक्तिभ्यामुपपादितं शुद्धब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानकर्मणोः समुच्चयासंभवमुपसंहरतितस्मादिति । १७. देवताज्ञानम्=देवतोपासनम् । १८. समुच्चय कर्मणेति शेषः । १९. न संभवतीति—सम्मुच्चयो हि फलातिरेकाय चिकीर्ष्यत उभयोरेकफलकत्वे चान्यतरलभ्यमेव द्वयलभ्यं नातिशयितमिति व्यर्थ एव सम्मुच्चयः स्यादिति भावः ।

देवलोक इति [1]पृथक्फलश्रवणात् । तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया

किमिति व्याख्यायते । [2]अध्ययनविधेर्मोक्षादर्वाक्पर्यवसानानुपपत्तेर्देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वा-[3]त्प्रहाणार्थैव निन्दा किं नेष्यते तत्राऽऽह—तयोर्ज्ञानकर्मणोरिति । [4]न फलशब्दो [5]मोक्षे रूढो [6]मोक्ष-

यहाँ पर भट्ट भास्कर का कहना है, कि जब सम्पूर्ण उपनिषद् एक ब्रह्मविद्या का ही प्रकरण है तो फिर अमुक मन्त्र से संन्यासियों के लिये ज्ञाननिष्ठा और अमुक मन्त्र से उनमें असमर्थ अज्ञानियों के लिये कर्मनिष्ठा बतलाई गयी है, ऐसा प्रकरण-भेद करना सर्वथा अनुचित है । अतः ज्ञान, कर्म तथा उपासना के अधिकारी भिन्न-भिन्न नहीं है, अपितु एक ही व्यक्ति ज्ञान के साथ उपनिषद् में कहे गये कर्म तथा उपासना का भी अनुष्ठान कर सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है किन्तु विचार दृष्टि से भट्ट भास्कर का उक्त मत समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उपनिषदों में प्राणादि उपासना का भी विधान देखा जाता है । उन उपासनाओं को ज्ञान का अंग बतलाना समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उनका फल पृथक् ही उपनिषदों में सुना जाता है । यदि उन उपासनाओं का स्वतंत्र फल नहीं कहे होते तो 'फलवत्संनिधौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से ज्ञान का अङ्ग मान सकते थे । यदि किसी वाक्य में फल का श्रवण होता हो और उसके समीप में पड़े हुए वाक्य में फल का श्रवण नहीं होता, तो वह फलशून्य वाक्य फलवाले वाक्य का अंग माना जाता है । प्रकृत में ब्रह्मज्ञान का और उपासनाओं का भी फल स्वतन्त्ररूप से श्रुति बतलाती है, फिर भला दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव कहना कैसे ठीक हो सकेगा ? इसी प्रकार व्याकृत तथा अव्याकृत उपासना का समुच्चय-विधान भी प्रकरण भेद से इष्ट है, क्योंकि उक्त उपासनाओं का प्रकरण भिन्न ही है । यथा कर्मकाण्ड में अधिकार भेद से अग्निहोत्रादि प्रकरण में भेद माना जाता है, वैसे ही उपनिषदों में भी अधिकार भेद से विद्या के प्रकरण में भेद मान लेने पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि कुछ विद्याएं कर्म के विरुद्ध तथा कुछ अविरुद्ध देखी गयी है जिन विद्याओं का कर्म के साथ विरोध नहीं है उन्हीं का समुच्चय बतलाना श्रुति को इष्ट है । अतः संसार की निवृत्ति ही जिसका फल है, एवं जिसका कर्म के साथ विरोध है, ऐसे आत्मैक्य विज्ञान का किसी भी श्रौत अथवा स्मार्त कर्म के साथ समुच्चय करना विवेकियों को इष्ट नहीं होगा, किन्तु देवता विज्ञान अर्थात् उपसनाओं का ही उक्त कर्म के साथ समुच्चय करना इष्ट है ।

यह आपको कैसे अवगत हुआ कि 'अन्धं तमः' इत्यादि अग्रिम प्रसङ्ग कर्मनिष्ठ, जीने की इच्छावाले अज्ञानी के लिये प्रारम्भ किया जा रहा है, तत्त्ववेत्ता के लिये नहीं ?

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि' इस मन्त्र से सम्पूर्ण भूतों को आत्मरूप से देखने वाले के लिये साध्य-साधन भेद का उपमर्दन होने के पश्चात् उस आत्मैकत्वदर्शी को उस समय क्या शोक और क्या मोह ? ऐसे शोक-मोह की निवृत्ति करने वाला आत्मैकत्व विज्ञान का किसी भी कर्म तथा उपासना

१. पृथक्फलश्रवणादिति—न समुच्चयानुपपत्तिरिति शेषः । कर्मणस्तु पितृलोकाख्यं पृथक्फलमनुपदमेव वक्ष्यतीत्य-वधेयम् । २. कथं नहि व्याख्यायतां तत्राह—अध्ययनेति । ३. मोक्षात्मकं नित्यं फलमुद्दिश्य वेदाध्ययनं विदधानः स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्येषविधिर्न साफल्यमश्नुवीत न च तथा सति प्रामाण्यमियादिति भावः । ननु मोक्षादर्वाचीनमपि स्वर्गादिफलमुद्दिश्य प्रवर्तनमानोऽपि स साफल्यमाप्नोतु नेत्याह—देवेत्यादिना । ४. तथा च किमर्था निन्देत्यत्राह—प्रहणार्थं वेति । देवताविज्ञानादि मोक्षासाधनस्य तित्याजयिषयेति यावत् ।

५. यदुक्तमध्ययनविधेरित्यादि तद्भाष्यभावोक्तिमिषेण परिहरति—न फलशब्दो मोक्षरूढ इति । असाधारण इत्यर्थः । मोक्षातिरिक्ताशक्तत्वे सति मोक्षे शक्त इति यावत् । ६. न मोक्षे रूढ इति—येन मोक्षातिरिक्त-साधनत्वनाप्यध्ययनविधिरफलत्वेनाप्रामाण्यं गच्छेदितिभावः । ७. तत्र हेतुमाह—मोक्षमित्यादिना ।

[1]न निन्दापरैवैकैकस्य[3] [2]पृथक्फलश्रवणात् । [4]'विद्यया [5]तदारोहन्ति । विद्यया देवलोकः । न [6]तत्र दक्षिणा यन्ति । कर्मणा [7]पितृलोक इति । [8]नहि शास्त्रविहितं किंचिदकर्तव्यतामियात् । [9]तत्रान्धं तमोऽ[10]दर्शनात्मकं तमः [11]प्रविशन्ति । के । येऽविद्यां विद्याया [12]अन्याऽविद्या तां कर्मेत्यर्थः । [13]कर्मणो विद्याविरोधित्वात् । तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेव[14] [15]केवला-मुपासते [16]तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः । ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव

के साथ समुच्चय करना विवेकशील व्यक्ति नहीं चाहता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय कथमपि सम्भव नहीं है । यहाँ पर तो विद्या एवं अविद्या के समुच्चय विधान की इच्छा से ही अविद्वानों की निन्दा की जा रही है ।

'जिस ब्रह्मविद्या का प्रसङ्ग इस उपनिषद् के प्रथम मंत्र में प्रारम्भ किया गया, समुच्चय की दृष्टि से उसी की आगे निन्दा की जा रही है', यह भट्टभास्कर का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रसङ्ग मात्र से कर्म के साथ ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध मानना उचित नहीं है, योग्यता भी देखनी चाहिये । कर्म के साथ सम्बन्ध के लिये ब्रह्मविद्या में योग्यता नही है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्मात्मैक्य बोध सम्पूर्ण कर्तृत्वादि अध्यास का नाशक होने के कारण कर्म के साथ उसका कैसे समुच्चय होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता है । साथ ही यह भी विचारणीय है कि जिसके निष्पन्न होने पर भी तत्काल फल नहीं मिलता, तो उसे सहकारी के साथ समुच्चय करने की आवश्यकता होती है । दर्शपूर्णमास इत्यादि कर्म के निष्पन्न होने पर तत्काल स्वर्गादि फल नहीं मिलता, अतः ऐसे कर्मों के साथ अन्य किसी का समुच्चय किया जा सकता है । आत्मैकत्वविज्ञान प्राप्त हो जाने पर तत्त्वदर्शी में शोक-मोह की निवृत्ति तत्काल ही देखी जाती है । यही श्रुति भी कह रही है 'तत्र को मोहः कः शोकः' । एकत्व दर्शन काल में ही मोहादि की निवृत्ति होने के कथन से उस ज्ञानादि का फल कालान्तरीय नहीं है । अतः वहाँ पर जिसका जिसके साथ न्यायतः वा शास्त्रीय दृष्टि से समुच्चय सम्भव हो सकता है, उसी के प्रसङ्ग में यहाँ पर कहा जा रहा है । देवता विषयक विज्ञान को दैवचित् कहते हैं, उसी का कर्म

१. न निन्दापरैवेति—न कर्मोपासन योर्जिहासाविषयेति यावत् । २. अत्र हेतुमाह—पृथगिति । ३. एकैकस्य सफलं च जिहासाविषयं चेति विप्रतिषिद्धमिति भावः । ४. पृथक्फलमेव श्रावयति—विद्ययेत्यादिना । ५. तदारोहन्तीति—तद्धिरण्यगर्भपदमुपासनयाधिगच्छन्तीत्यर्थः । एवमग्रेऽपि नेयम् । ६. दक्षिणा—दक्षिणोपलक्षितयज्ञादिकर्मानुष्ठातारः । दक्षिणमार्गानुगामिनः कर्मिण इति यावत् । ७. पितृलोक—स्वर्गः । ८. ननु सफलमपि कुतो न जिहासितव्यं स्यात्तत्राह—नहीति । तथाहि सति शास्त्रस्याननुष्ठापकत्वलक्षणप्रामाण्यं प्रसज्येत तच्चानिष्टमिति भावः । ९. तत्र—तथा सति । उपपत्त्या प्रकृते विद्यापदेन देवताज्ञानस्यैव ग्राह्यत्वनिश्चये सतीति यावत् । १०. अदर्शनात्मकमिति—आज्ञानात्मकमहन्ताद्यभिमानात्मकाज्ञानकार्यप्रचुरं निःश्रेयससंपादनाक्षमप्रायान्देवादियोनिमिति यावत् । ११. प्रविशन्ति—प्राप्नुवन्तीति यावत् । १२. अविद्यामित्यत्र विद्यासम्यज्ज्ञानं नञर्थस्तु विरोधित्वमित्याशयेन व्याचष्टे—विद्याया अन्येति । १३. ननु विद्याया अन्यत्वं घटादावपि भवति तत्कुतः कर्मैव गृह्यते तत्राह—कर्मणो विद्याविरोधित्वादिति । अविद्याशब्दस्य कर्मार्थत्वेऽयं हेतुः । तथा च विरोधित्वमेवात्र नञर्थः । विद्यया अन्येत्यादि तु व्युत्पत्तिमात्रं विरोधित्वमेव वा अन्यत्वं विवक्षितम् । विरोधित्वस्य नञर्थत्वे च निगदन्ति "सादृश्य तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता, अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः" इति । विरोधित्वञ्चानयोर्निरूपितमधस्ताद्भिन्नाधिकारित्वमुपपादयद्भिर्वक्ष्यते चेति भावः । १४. सर्वं वाक्यं सावधारणमितिन्यायेनाह—एवेति । १५. तदेव विवृणोति—केवलमिति उपास्यमग्रमुनितरामित्यर्थः । १६. कर्मणः केनाप्यनुपास्यमानत्वादुपासत इत्यस्थाने प्रयुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—तत्परा इति । तत्कर्मैव परं परमपुरुषार्थसाधनत्वेनाभिप्रेतं येषामिति विग्रहः ।

[1]बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति । के, कर्म हित्वा ये उ ये तु विद्यायामेव देवताज्ञान एव रता [2]अभिरताः । [3]तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह । [5]अन्यथा [6]फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

सम्बन्धी रूप से उपन्यास किया गया है, परमात्म विज्ञान का नहीं। 'उपासना से देवलोक को प्राप्त करता है' ऐसा उपासना का पृथक् फल सुना गया है, केवल कर्म और केवल उपासना के अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, जबकि केवल कर्म और उपासना का पृथक्-पृथक् फल सुना गया है इसलिये निन्दा करने वाली श्रुति वाक्य का तात्पर्य निन्दा में नहीं है, अपितु समुच्चय विधान में ही है। अन्यथा एक-एक अनुष्ठान का फल-कथन व्यर्थ हो जायेगा । श्रुति कहती है कि 'देवोपासना से देवपद पर आरूढ़ होते हैं, उपासना से देवलोक प्राप्त होता है, उपासना से जिस स्थान को प्राप्त करता है, वहाँ पर दक्षिणायन से जाने वाले नहीं जाते हैं। केवल कर्मानुष्ठान से पितृलोक प्राप्त होता है'। इस प्रकार उपासना तथा कर्मानुष्ठान का पृथक्-पृथक् फल का श्रवण हो रहा है। दोनों का अनुष्ठान जब शास्त्र विहित है तो भला शास्त्रविहित कोई भी कर्म अकर्तव्य कैसे होगा ? अतः एक-एक की निन्दा समुच्चय विधान के अभिप्राय से ही की गयी है।

उक्त मंत्र का अर्थ यह है कि जो विद्या के विरोधी अविद्यात्मक कर्म में लगे हुये हैं, वे तो अदर्शनरूप तम में प्रवेश कर रहे हैं। अविद्या का अर्थ कर्म इसलिये भी किया गया है, क्योंकि कर्म विद्या का विरोधी है। ऐसी केवल अग्निहोत्रादि रूप अविद्या की उपासना अर्थात् अनुष्ठान जो करते हैं वे तो घोर अन्धकार में जा रहे हैं, किन्तु उनसे भी अधिक घोरतम अन्धकार में वे प्रवेश कर रहे हैं, जो शास्त्रविहीन अग्निहोत्रादि कर्म का परित्याग कर देवता ज्ञानरूप उपासना में ही अभिरत हो रहे हैं। यहाँ पर दोनों का अवान्तर फलभेद समुच्चय का कारण कहा गया है। अन्यथा एक वाक्य फल वाला और तत्संनिधान में दूसरा वाक्य फलशून्य हो तो 'फलवत्संनिधौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से उक्त संनिहित दो वाक्य में अङ्गाङ्गी-भाव होने लग जायेगा ॥९॥

स्वतन्त्र कर्म और उपासना का फल

नवम मन्त्र से केवल कर्मानुष्ठान अथवा केवल उपासनानुष्ठान की निन्दा की गयी, इतना ही नहीं, अपितु उनसे अनिष्ट-प्राप्ति भी बतलायी गयी है। अतः कर्म एवं उपासना दोनों ही निष्फल हैं ? इस शंका का समाधान मन्त्र स्वयं ही कर रहा है कि 'विद्या (उपासना) से अन्य ही फल प्राप्त होता है और अविद्या (कर्म) से अन्य फल प्राप्त होता है, ऐसे विद्वान् लोग कहते हैं, एवं हमने उन विद्वानों की बात भी सुनी है, जिन्होंने ज्ञान और कर्म की सम्यक् व्याख्या की थी। 'उपासना से देवलोक को

१. बहुतरमिति—तमसो बहुतरत्वं तत्कार्यस्याभिमानादेराधिक्यम् ।

२. अभिरता इति—रतिमन्तः सन्तो घटन्त इति यावत् । ३. ननु तर्हि त्याज्यमेव कर्मोपासनद्वयमित्याशङ्कामपनुदन्मन्त्रान्तरमवतारयति—तत्रेत्यादिना । तत्रप्रत्येकं निन्दितत्वेन त्यागायोगे च सतीति यावत् । ४. अवान्तरफलेति—मुख्यं तु चित्तशुद्धिज्ञानद्वारकमोक्ष एव फलमित्याशयः ।

५. अन्यथेति—अवान्तरफलभेदानुक्तावित्यर्थः । ६. फलवदफलवतोरित्यादि—फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायादिति भावः । संनिहितत्वं चानयोरेकशास्त्रविहितत्वं शास्त्रं चैकं वेद एवेत्यवधेयम् । ७. अङ्गाङ्गितैवेति—प्रधानयोर्हि सहानुष्ठानस्य समुच्चयव्यपदेशो दर्शपूर्णमासयोरिव नत्वङ्गाङ्गिनोर्दर्शादिप्रयाजाद्योरिवेत्यभिप्रायः ।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

[विद्या (देवोपासना) से (देवलोक की प्राप्तिरूप) अन्य ही फल बतलाते हैं तथा अविद्या (अग्नि होत्रादि कर्म) से (पितृलोक की प्राप्तिरूप) अन्यफल कहते हैं। ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उन (फल के सहित ज्ञान और कर्म) की व्याख्या की थी ॥१०॥]

अन्यदेवेत्यादि । अन्यत्पृथगेव विद्यया क्रियते फलमित्याहुर्वदन्ति विद्यया देवलोको विद्यया तदारोहन्तीतिश्रुतेः । अन्यदाहुरविद्यया कर्मणा क्रियते कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः । इत्येवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं धीराणां धीमतां वचनम् । य 'आचार्या नोऽस्मभ्यं

प्राप्त करता है' इस श्रुति से उपासना का फल देवलोक की प्राप्ति बतलायी है, और 'कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है' इस श्रुति से कर्मानुष्ठान का फल पितृलोक की प्राप्ति बतलायी गयी है, ऐसा हमने उनके रहस्य जानने वाले विद्वानों का व्याख्यान सुना है। इस वाक्य से श्रुति बतला रही है कि यह रहस्यमय ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त किया जाता है, केवल अपने मनःकल्पित विचारों से उक्त रहस्यमय ज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

मन्त्र में आया हुआ 'अन्य' शब्द उपासना तथा कर्म में सफलत्व का बोधक है, एवं 'एव' शब्द से दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव का निषेध भी किया है। मंत्र में उपासना का फल बतलाते समय अवधारणार्थक 'एव' शब्द से देवता-विज्ञान का फल केवल देवलोक की प्राप्ति है, किन्तु कर्म का फल अन्तः-शुद्धि द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति भी है। अत एव कर्म का फल बतलाते समय केवल 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया गया वहाँ पर अवधारणार्थक एव शब्द नहीं है।

इस रहस्य के व्याख्याता ऋषि मन्त्रद्रष्टा हुए हैं, इसलिये 'धीराणाम्' पद से कहा गया है, क्योंकि मन्त्रद्रष्टा से भिन्न व्यक्ति स्वातन्त्र्येण अर्थ-प्रतिपादन में भूल कर सकता है, किन्तु मन्त्रद्रष्टा, आप्तकाम ऋषि कर्म तथा उपासना के तन्त्र को जानने वाले कभी भी भूल नहीं कर सकते। उन्हीं का यह आगम परम्परा से हमारे सामने उपस्थित है। अतः पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा का तात्पर्य इन दोनों की निष्फलता बतलाने में नहीं है; अपितु उन दोनों का समुच्चय बतलाने में है। एक-एक का पृथक् अनुष्ठान यदि सर्वथा निष्फल हो तो उन दोनों का समुच्चय अनुष्ठान कैसे हो सकता है? लोक में देखा गया है कि एक सिकता तेल देने में असमर्थ है। सिकता-समूह से तेल नहीं निकलता; किन्तु एक तिल या सरसों तेल देने में समर्थ है, तो उनके समूह में भी तेल देने का सामर्थ्य है। अतः उक्त अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर उन दोनों के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान का भी फल है, जिसे दशम मन्त्र से बतलाया गया है।

दो सफल एवं समर्थ का ही साहचर्य लोक में भी देखा जाता है, यथा कृषि वाणिज्यादि में एक समृद्ध एवं समर्थ है, और दूसरा दरिद्र तथा असमर्थ पङ्गु एवं प्रमादी है, तो उन दोनों का कभी साहचर्य नहीं चल सकता है। इसके विपरीत दोनों समृद्ध तथा सशक्त हों और मिलकर कृषि-वाणिज्यादि करें, तो पूर्व की अपेक्षा अधिक लाभ होता देखा गया है। वैसे ही कर्म और उपासना दोनों ही निष्फल हों, अथवा एक का फल होता हो और दूसरे का नहीं; तो दोनों परिस्थिति में कर्म और

---

१. के ते धीमन्त इत्यत आह—य इति ।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

[जो कोई विद्या और अविद्या इन दोनों को एक साथ ही एक पुरुष से अनुष्ठेय जानता है (और वैसे ही अनुष्ठान करता है वह कर्म रूप) अविद्या से (स्वाभाविक प्रवृतिरूप) मृत्यु को पार कर विद्या से (देवात्म भाव रूप आपेक्षिक) अमृतत्व को प्राप्त करता है ॥११॥]

तत्कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्त[1]स्तेषामय[2]मागमः [3]पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥१०॥
[4]यत एवमतो विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म चेत्यर्थः । यस्तदेतदुभयं सहैकेन

मनिच्छतामपि [5]समीहिते [6]फलव्यवहारदर्शनात्तत[7] यो देवलोकादिमुपादित्सते तस्य तदपि फलं [8]भवत्येवेत्यर्थः[9] ॥६॥१०॥११॥

उपासना का समुच्चय बन नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में 'फलवत्संनिधौ अफलं तदङ्गम्' इस न्याय से अंगांगी भाव प्राप्त होगा, समुच्चय नहीं। समुच्चय के लिये दोनों की सफलता अनिवार्य है। इसीलिये मंत्रद्रष्टा ऋषियों की व्याख्या को प्रमाण मानकर कर्म तथा उपासना का फल पृथक्-पृथक् बतलाया गया है।

यहाँ पर यह स्मरण रहे कि विद्या का अर्थ उपासना तथा अविद्या का अर्थ कर्म लेना ही उचित है, क्योंकि तत्त्वज्ञान का किसी के साथ समुच्चय सम्भव नहीं और अविद्या पद में नञर्थ विरोधी होने के कारण विद्या का विरोध कर्म के साथ ही है। अतः अविद्या पद का अर्थ कर्म किया गया है, जिसे श्रुति, युक्ति तथा अनुभव के आधार पर बतला रही है॥ १० ॥

कर्मोपासना समुच्चय का फल

इस प्रकार देवोपासना तथा कर्मानुष्ठान दोनों ही शास्त्रविहित होने के कारण सफल हैं, ऐसा कहने के बाद अब दोनों का समुच्चय बतला रहे हैं। जब कि ऐसी बात है, इसीलिये देवोपासना और शास्त्रविहित कर्म इन दोनों को जो कोई एक ही पुरुष से एक साथ अनुष्ठेय समझता है, वह अग्निहोत्रादि कर्म से स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप मृत्यु को जीतकर देवोपासना से देवभाव की प्राप्तिरूप अमृत को प्राप्त कर लेता है।

समुच्चय का अर्थ होता है सहानुष्ठान। वह समुच्चय दो प्रकार का होता है, क्रमसमुच्चय और सहसमुच्चय। जीवन में कुछ दिनों तक कर्म का अनुष्ठान करने के बाद उपासना या ज्ञान के अनुष्ठान

---

१. तेषां च तद्व्याख्यानं नात्मकल्पनयेत्याह—तेषामिति । २. आगमः—उपदेशः ३. पारम्पर्यागत इति—आचार्यपरम्पराप्राप्त इत्यर्थः । यतस्तेऽपि श्रुत्यवष्टम्भेनाहुरिति जगदुः । ततो नास्यागमस्याप्रामाण्यं शङ्कनीयमिति भावः । ४. उभयोः फलवत्त्वेन त्यागायोगात् प्रत्येकानुष्ठानस्य च निन्दितत्वादिति वदन्समुच्चयविधाने मन्त्रमवतारयति—यत एवमत इति । ५. समीहिते—लिप्सिते स्वर्गादावित्यर्थः । ६. फलव्यवहारदर्शनादिति—शक्त्यैव फलशब्दप्रयोगसद्भावादिति यावत् । ७. तत इति—मोक्षादर्वाचीनफलेनापि स्वाध्यायविधेः प्रामाण्यस्याक्षतत्वादिति यावत् । ८. भवत्येवेति—तथा च न सफलस्य तित्याजयिषा घटत इति प्रहाणार्हमेव वचः प्रहाणार्थैव निन्देत्येतदिति भावः । ९. इत्यर्थ इति—ततः समुच्चिचीषयैव निन्देति राद्धान्त इत्युपसंहर्तव्यम् ।

पुरुषेणानुष्ठेयं [1]वेद तस्यैवं समुच्चयकारिण [2]एवैकपुरुषार्थसंबन्धः [3]क्रमेण स्यादित्युच्यते--अविद्यया कर्मणाऽग्निहोत्रादिना मृत्युं [4]स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च [5]मृत्युशब्दवाच्यमुभयं

में लग जावें, तो उसे क्रमसमुच्चय कहते हैं, वैसे ही प्रतिदिन कुछ समय तक अग्निहोत्रादि कर्म करना उसके बाद देवोपासना और तदनन्तर वेदान्त ज्ञान प्राप्ति के साधन वेदान्तश्रवणादि में प्रवृत्त होना, इसे भी क्रमसमुच्चय कहते हैं। किन्तु एक ही पुरुष से एक ही समय में अग्निहोत्रादि कर्म, देवोपासना अथवा ब्रह्मज्ञान के अनुष्ठान को सहसमुच्चय कहते हैं। एक ही समय में भिन्न-भिन्न पुरुष से कर्म, उपासना और ज्ञान के अनुष्ठान को भी कथञ्चित् सहसमुच्चय कहा जा सकता है। इस प्रकार क्रम-समुच्चय तथा सहसमुच्चय के भी दो-दो भेद हो जाते हैं। इनमें से भिन्न-भिन्न पुरुष से एक काल में कर्मादि के अनुष्ठान रूप सहसमुच्चय मानने में कोई विरोध नहीं है अर्थात् एक पुरुष अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान में लगा हुआ है तो दूसरा देवोपासना में एवं तीसरा ज्ञान के साधन में निरत है। ऐसे समुच्चय मानने में किसी को कुछ भी विरोध नहीं होता, लेकिन श्रुति को ऐसा अभिमत नहीं है, क्योंकि 'तीर्त्वा' पद में 'त्वा' प्रत्यय किया गया है, जो एक कर्ता में पूर्वकालिक क्रियावाचक धातु से हुआ करता है। अतएव पाणिनीय सूत्र में कहा है 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१)

यहाँ पर 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' (अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या द्वारा अमरत्व को प्राप्त कर लेता है)। इस प्रकार मृत्यु का सन्तरण करने वाला तथा अमरत्व प्राप्त करने वाला एक ही व्यक्ति है, जिसने विद्या एवं अविद्या का एक साथ अनुष्ठान किया है। अतः विद्या एवं अविद्या के अनुष्ठान का कर्ता भिन्न-भिन्न श्रुति को इष्ट नहीं है किन्तु एक ही कर्ता इष्ट है।

क्रमसमुच्चय के दो भेद बतलाये गये थे। उनमें से प्रथम पक्ष मानने में कोई विरोध तो नहीं है किन्तु श्रुति में 'यस्तद्वेदोभयं सह' इससे क्रमसमुच्चय का प्रतिपादन करना श्रुति को अभीष्ट नहीं जान पड़ता। अन्यथा 'उभयं सह' कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्रमसमुच्चय के द्वितीय पक्ष में बतलाया गया है, कि प्रतिदिन कुछ समय तक अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान, तत्पश्चात् उपासना का एवं ज्ञान का साधन कर लेना चाहिये, किन्तु विचार करने पर यह पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि सर्वात्म भाव के चिन्तन में लगे हुए व्यक्ति से क्रिया-कारक तथा फल भेदवाले कर्म का अनुष्ठान कैसे सम्भव हो सकेगा? ऐसे व्यक्ति के लिये तो 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इस वाक्य से क्षणभर भी अनात्म चिन्तन का निषेध कर तैलधारावत् नित्य-निरन्तर ब्रह्म और आत्मा की एकता का चिन्तन

१. वेदेति—विदित्वाऽनुतिष्ठतीत्यर्थः तस्यैवं समुच्चयकारिण इत्युत्तरस्माद्भाष्यात्। २. एकपुरुषार्थसंबन्ध इति—एकः पुरुषार्थो देवात्मभावाख्यममृतं तत्प्राप्तिरित्यर्थः। ३. क्रमेणेति—स्वाभाविककर्मज्ञानाख्यमृत्युतरण-पूर्वकमिति यावत्। ४. मृत्युपदं व्याचष्टे—स्वाभाविकं कर्मज्ञानं चेति। शास्त्रानाधेयं पुरुषबुद्धिप्रभवं प्राक्तनसंस्कारानुसारिक्रियासामान्यमुपासनसामान्यं चेत्यर्थः। ५. ननु मृत्युशब्दो मारके यमादौ प्रसिद्धस्त-त्कुतोऽन्यथा व्याख्यायते तत्राह—मृत्युशब्दवाच्यमुभयमिति। सा वा एषा देवता (प्राणाख्या) एतासां देवतानां (वागादीनां) पाप्मानं मृत्युमपहृत्य यत्रासां दिशामन्तः (शास्त्रीयज्ञानादिसंस्कृतजनाधिष्ठितमध्यदेशा (आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यविन्ध्यहिमागयोः) तिरिक्तो देशो दिशामन्तः) तद्गमयाञ्चकारेत्यादिश्रुतौ। (आदिना असतो मा सद्गमयेति मन्त्रव्याख्यानभूता श्रुतिर्गृह्यते। तत्र हि मृत्युर्वा असदित्यसच्छब्दितं स्वाभाविकं ज्ञानं कर्म च मृत्युत्वेन व्याख्यायत इति। स्वाभाविकज्ञानकर्मणी एव पाप्मपदेन परामृश्य तयोर्मृत्युत्वव्यपदेशात्त एवात्र मृत्युत्वेन मारकत्वानुगमात्। कर्मणा मृत्ब्वन्तरतरणायोगाच्चेति भावः।

तीर्त्वाऽति[1]क्रम्य [2]विद्यया देवताज्ञानेनामृतं [3]देवतात्मभावमश्नुते प्राप्नोति । [4]तद्धयमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥११॥

ही बतलाया गया है। इसके विपरीत क्रिया-कारक फल भेदवाले कर्म में निरत व्यक्ति अद्वैतात्मा का चिन्तन कैसे कर सकेगा ? अतः क्रमसमुच्चय का द्वितीय पक्ष भी श्रुति, युक्ति एवं अनुभव से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। परिशेषतः एक कालावच्छेदेन एक ही व्यक्ति से विद्या एवं अविद्या का सहानुष्ठान रूप समुच्चय बतलाना ही श्रुति को इष्ट है। इसी अभिप्राय से एक-एक के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है और साथ ही दोनों का दशममन्त्र से फल भी बतलाया गया है। अतएव एकादशमन्त्र की व्याख्या करते हुये भगवान् भाष्यकार ने कहा है, कि जो कोई विद्या एवं अविद्या को एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठेय समझता है, ऐसे समुच्चय अनुष्ठान करने वालों को क्रमशः दोनों के फल के साथ सम्बन्ध हो जाता है। वह सहानुष्ठान कर्ता पहले शास्त्रविहित-अग्निहोत्रादि-श्रौतकर्म तथा स्ववर्णाश्रमानुसार स्मार्त कर्म के द्वारा स्वाभाविक पाशविक प्रवृत्तिरूप कर्म तथा स्वाभाविक चिन्तनरूप ज्ञान से मृत्यु को पार करके देवोपासना से देवात्मभाव (अमरत्व) को भी प्राप्त कर लेता है। देवता भी अमर कहे जाते हैं, इसलिये देवात्माभाव-आपेक्षिक अमृतत्व माना गया है।

जल की भाँति जीव की प्रवृत्ति नीचे की ओर होती है, शास्त्र उसे संयम का मार्ग बतलाकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर जाने की प्रेरणा देता है। इसीलिये स्वाभाविक प्रवृत्ति प्राणी को पतन की ओर ले जाने के कारण मृत्यु शब्द से कही गयी है। इस स्वाभाविक प्रवृत्तिरूप मृत्यु को जीतने के साधन शास्त्रोक्त कर्म ही हैं। वे कर्म देवोपासना के साथ अनुष्ठान किये जाने पर देवात्मभाव की

१. अतिक्रम्येति—निरुध्येत्यर्थः। तत्प्रयुक्तदुरदृष्टोत्पत्तिं प्रतिबध्येति यावत्। शास्त्रीयमेव कर्मादि सदानुतिष्ठतस्तत्संस्कारप्राचुर्येण स्वाभाविकज्ञानकर्मसंस्कारा उपमृदिता भवन्तीति प्रसिद्धमेव। तदुत्थपुण्यप्रभावाच्च ते क्षरन्ति ततस्तदनुसारिप्रवृत्त्यभावेन पापोत्पत्तिप्रतिबन्धः। २. एवं कर्मणा निष्पापो विशुद्धः सन्देवतोपासनोत्थपुण्यादृष्टवशेन देवभावाख्यममृतमधिगच्छतीत्याह—विद्ययेत्यादिना। ३. देवतात्मभावमश्नुत इति—नन्वेकैकस्यापीदमेव फलम्। विद्यया देवलोकः, कर्मणा पितृलोक इति श्रुतेः। तत्तल्लोकप्राप्तिर्हि तत्तल्लोकेषु देवात्मनाऽवस्थानमेव तत्कथं निन्दितमेवैकैकस्य फलम्। समुच्चयफलत्वेनाभिधीयत इति चेन्न। अमृताख्यदेवतात्मभावप्राप्तिर्नाम देवतासायुज्यम्। व्यष्टयुपाधिकृतपरिच्छेदनिर्मोकेन समष्टयुपाध्युपहितत्वाधिगम इति यावत्। लोकप्राप्तिस्तु लोकाभिमानिदेवतासामीप्यादिरूपेति भेदात्। वस्तुतस्तु देवतात्मभावो ज्ञानद्वारामोक्षसाधनम्। "ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमिति" ब्रह्मलोकगतानां ब्रह्मणा सहैव मोक्षश्रवणात्। लोकप्राप्तिस्तु भोगमात्रसाधनमित्येव भेदः तथा च सकामकर्मोपासने निन्दित्वा निष्कामतत्समुच्चयोऽत्र विधीयत इति मन्तव्यम्। सकामनिष्कामयोरेव तयोर्भोगमोक्षहेतुत्वात्। ज्ञानकाण्डे चात्र ज्ञानसाधनकर्मोपासनयोरेव विधातुमर्हत्वादिति। ननु निष्कामानुष्ठानस्य मोक्षहेतुत्वे एकैकस्यापि तथाऽनुष्ठानं परम्परया मोक्षपर्यवसाय्येव भविष्यतीति समुच्चयविधानमफलमेवेति चेन्न। सत्वरं फलजननानुकूलतया सफलत्वात्। एकैकानुष्ठाने हि विलम्बेन फलं समुच्चयेन तु सद्य एव, समुच्चयेन मलविक्षेपयोर्युगपदपाकरणादेकैकतस्तु क्रमेणेत्यलम्। ४. नन्वमृतं नाम पीयूषापरपर्यायं नाकिनां पेयं किमपि द्रव्यं प्रसिद्धम्। देवात्मभावस्तु नामृतत्वेन प्रसिद्धस्तत्कथं प्रसिद्धमपहायाप्रसिद्धमुच्यते शास्त्रप्रसिद्धत्वान्नैवमित्यभिप्रेत्याह—तद्धीति। मृत्योर्माऽमृतं गमयेत्यादेर्देवतात्मभाव एवामृतत्वेनोच्यते तथा च तत्र ब्राह्मणम् "अमृतं मा कुर्वित्येवैतदाहेति।" नाकिपेयस्य तु केवलेनापि कर्मणा लब्धुं शक्यतया समुच्चयफलत्वोक्तेः रसाङ्गत्यादनवकाश एवेति भावः।

प्राप्ति में सहायक हो जाते हैं। यदि अग्निहोत्रादि—शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग कर केवल उपासना में निरत होता हो, तो निश्चित है कि वह प्रत्यवाय का भागी होगा। वैसे ही देवार्पण बुद्धि से कर्म को करते हुए देवतोपासना नहीं करता तो वह भी नवम मन्त्रोक्त रीति से घोरतम अन्धेरे में जायेगा।

यहाँ पर इस बात को कभी न भूलें कि कर्म का समुच्चय देवतोपासनादि के साथ ही सम्भव है, ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान के साथ नहीं। अतः उक्त प्रसंग में कर्म तथा उपासना का समुच्चय ही बतलाया गया है, क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से कर्ता, साधन तथा फलभेद का बाध हो जाने के कारण भला अद्वैतज्ञान के साथ कर्म का कैसे समुच्चय हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

कर्म एवं उपासना के समुच्चय-विधान के लिये प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है। ऐसी व्याख्या क्यों की गयी? ऐसा क्यों न माना जाय कि आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्तिरूप परम-पुरुषार्थ ही वस्तुतः फल है। शेष देवादि-लोक की प्राप्ति तो फलाभास है। जो फल के समान प्रतीत होता हो, किन्तु दुःखमिश्रित होने के कारण वस्तुतः फल नहीं है, तो उसे फलाभास कहते हैं। देवादि लोक की प्राप्ति ऐसी ही है। इसीलिए मोक्षाभिलाषी पुरुषों को दूर से ही परित्याग करने के लिये उसकी निन्दा की गयी है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ऐसे चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं। इनमें नित्य, निरतिशय होने के कारण मोक्ष परम पुरुषार्थ है और शेष तीन अनित्य तथा सातिशय होने के कारण केवल पुरुषार्थ हैं। अन्यथा मोक्ष के लिये 'परम' विशेषण देना व्यर्थ ही हो जायेगा, साथ ही फल शब्द केवल मोक्ष अर्थ में रूढ़ नहीं है। मुमुक्षु से भिन्न व्यक्ति में भी फलाभिलाषी शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः समुच्चय विधान के लिये ही प्रत्येक के पृथक् अनुष्ठान की निन्दा की गयी है, एवं दोनों का फल भी बतलाया गया है। इससे भी समुच्चय विधान करना इष्ट जान पड़ता है, जिसे ग्यारहवें मन्त्र से बतलाया गया है।

देवता तथा उनके लोक को शास्त्रों में अमृत कहा गया है। परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं का ब्रह्मज्ञान से अन्त हो जाता है। व्यवहार दृष्टि से भी इस लोक एवं अस्मदादि शरीर के समान ही देवलोक एवं देवशरीर का नाश श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से सिद्ध है, फिर इन्हें अमर कैसे कहा जाता है? 'अमरा निर्जरा देवाः' ऐसा अमरकोश में भी देवताओं को अमर और अजर कहा गया है, किन्तु पूर्वोक्त श्रुति, युक्ति तथा अनुभव से ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं का अन्त ही देखा जाता है, फिर उन्हें अमर क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि मरण शब्द का अर्थ स्थूल-सूक्ष्म शरीर का वियोग होता है 'मृङ् प्राणत्यागे' ऐसे 'मृ' धातु से मरण शब्द बना है। लोक में प्राणादि सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से निकल जाने को मरण शब्द से कहा जाता है, जो इस मृत्युलोक की परिपाटी है। देवलोक में देवताओं का शरीर 'दिव्य' कहा गया है। शुभ कर्म के फलस्वरूप देवलोक की प्राप्ति होती है। वहाँ पर देवलोकानुरूप कर्म का फल भोग लेनेपर शेष कर्म के अनुसार जीव इस संसार में उत्तमाधम शरीर को प्राप्त करता है। यह सब होते हुए भी देवलोक में देवताओं का शरीर प्राण निकल जाने पर इस लोक के समान लाशरूप से पड़ा रहता है, जिसकी अन्त्येष्टि करने के लिये उनके सम्बन्धियों को मृतदेव शरीर को श्मशान में ले जाना पड़े, ऐसी बात नहीं है, किन्तु देवलोक के उचित फल भोग समाप्ति की चिन्ता से उसका शरीर पिघलकर वैसे ही पंचमहाभूतों में मिल जाता है, जैसे उष्णता से बर्फ गलकर पानी बन जाता है। अतः उसमें मरण शब्द का प्रयोग न होने के कारण उन्हें अमर कहा गया है। वैसे ही देवताओं को अजर कहने का तात्पर्य यह है कि इस लोक में शुक्र शोणित के सम्बन्ध से गर्भ में पकता हुआ जीव योनि से बाहर आता है और पुनः अन्नादि से पुष्ट हो शैशव,

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः ॥१२॥

[जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति काम कर्म के बीजभूत अविद्या) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति (हिरण्यगर्भरूप कार्य ब्रह्म) में रत हैं, वे मानो उनसे भी अधिकतर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥१२॥]

[1]अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—अन्धं तमः

[2]चित्तन्त्रा माया [3]परमेश्वरस्योपाधिः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरमित्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धाऽत्रासंभूतिशब्देनोच्यते न ब्रह्म । तस्य निर्विकारस्य

कुमार, युवा इत्यादि अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ वृद्ध हो जाता है, ऐसी परिपाटी भी देवलोक की नहीं है, अपितु देवलोक में गये व्यक्ति को प्रारम्भ से अन्त तक षोडश वर्ष की अवस्था में रह कर अपने कर्मानुसार दिव्य भोगों को भोगना पड़ता है। वह शरीर सांकल्पिक हुआ करता है। जब बाल्यावस्था ही नहीं हुई तो भला वृद्धावस्था क्यों कर आने लगे? अतएव देवताओं को अजर कहा गया है। जरावस्था का लक्षण होता है कि शरीर में झुर्रियाँ पड़ जायें, बाल सफेद हो जायें, दाँत गिर जायें एवं इन्द्रियाँ शिथिल हो जायें। देवताओं के शरीर में ये सब नहीं होते। अतएव उन्हें अमर कह दिया गया है। इस प्रकार अस्मदादि शरीर एवं लोक की अपेक्षा चिरस्थायी होने के कारण देवताओं के शरीर एवं लोक को अमृत शब्द से कहा गया है, जिसे कर्म तथा उपासना का सहानुष्ठान कर्ता प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार कर्म एवं उपासना के सहसमुच्चय प्रसङ्ग को बतलाकर अब व्याकृत एवं अव्याकृत उपासना के सहसमुच्चय विधान के लिये आगे का प्रसङ्ग प्रारम्भ किया जाता है ॥११॥

व्यक्त और अव्यक्त उपासना का समुच्चय

श्रुति को व्याकृत एवं अव्याकृत उपासना का भी समुच्चय करना इष्ट है। इसीलिये इन दोनों के पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इत्यादिक मंत्र से निन्दा कर रही है, कि 'जो असम्भूति (अव्याकृत प्रकृति) की उपासना कर रहे हैं, वे अन्धेरे में प्रवेश कर रहे हैं। उनसे भी अधिक अन्धकार में वे प्रवेश कर रहे हैं, जो सम्भूति की (व्याकृत की) उपासना में रत हैं।'

इस मंत्र में आये हुए असम्भूति पद का अर्थ—अव्याकृत प्रकृति है। अर्थात् 'सम्भूति—सम्यग् भवनम्—उत्पत्तिर्यस्य कार्यस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्भूति का अर्थ नामरूप वाला कार्य होता है,

१. शुद्धान्तःकरणेभ्यो विरक्तेभ्यः संन्यासिभ्य ईशावास्यमित्यादिना ब्रह्मात्मैकत्वविद्या सफलोक्ता । अन्धंतम इत्यादिना त्वशुद्धान्तःकरणानां ज्ञानाधिकारित्वसम्पत्तये प्रकरणान्तरमारब्धं तत्र ये मलविक्षेपात्मकाशुद्धिद्वयवन्तस्तेभ्यः सत्वरफललाभाय कर्मोपास्तिसमुच्चयो व्यधायि । ये तु विक्षेपमात्राशुद्धिमन्तस्तेभ्यः केवलोपास्तिरेव वक्तव्या तत्रापि सत्वरफलसम्पत्तये व्याकृताऽव्याकृतोपासनयोः समुच्चयमेव विधित्सति वेद इत्याशयेनावतारयति—अधुनेत्यादिना । कार्यकारणे हिरण्यगर्भप्रकृती व्याकृताव्याकृतशब्दाभ्यां भण्येते ।

२. ननु प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति ब्रह्मण एव प्रकृतित्वनिर्णयात्तस्या अविद्याऽव्याकृताख्येति व्याख्याविरुद्धेत्याशङ्क्याह—चित्तन्त्रेत्यादि । चित्तन्त्रत्वोक्त्याऽस्याः प्रधानत्वं व्यवच्छिनत्ति । ३. परमेश्वरस्योपाधिरिति—ब्रह्मणि जगज्जन्मादिहेतुत्वरूपपरमेश्वरत्वस्य निबन्धनमित्यर्थः ।

प्रविशन्ति येऽसंभूतिं संभवनं संभूतिः सा यस्य कार्यस्य [1]सा संभूतिस्तस्या अन्याऽसंभूतिः प्रकृतिः कारणम्[2]विद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां [3]कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततस्तस्मादपि भूयो बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति य उ संभूत्यां [4]कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

[5]साक्षात्प्रकृतित्वानुपपत्तेः। [6]भास्कराभिमतस्तु परिणामवादस्तत्त्वालोके निरस्त एवास्माभिः। [7]सांसारिक-

उससे भिन्न अव्याकृत कारणरूप प्रकृति को असम्भूति पद से कहा गया है। ये दोनों ही चेतन ब्रह्म के परतंत्र हैं। उनमें से कार्य अपने कारण के अधीन होता है, इस नियम के अनुसार व्याकृत जगत् अव्याकृत प्रकृति के अधीन है एवं अव्याकृत प्रकृति चेतन ब्रह्म के आश्रित है, क्योंकि 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुत्यन्तर में भी परमेश्वराधीन माया को जगत् की प्रकृति कहा गया है। यद्यपि प्रकृति के उत्पत्ति रहित होने के कारण ब्रह्म भी असम्भूति पद से कहा जा सकता है, तथापि निर्विकार होने से ब्रह्म विकारयुक्त प्रपञ्च का साक्षात् कारण नहीं हो सकता। अतः प्रपञ्च का साक्षात् प्रकृतित्व असम्भूति पद वाच्य अव्याकृत प्रकृति में ही है। इसी को अविद्या पद से भी कहा जाता है। यही सम्पूर्ण कामनाओं तथा शुभाशुभ कर्मों का बीज है तथा बुद्धि के ऊपर आवरण डालने वाली होने के कारण अदर्शनरूपा भी है। अतएव ऐसी असम्भूति की उपासना करने वाले को तदनुरूप अदर्शनात्मक अन्धेरे में प्रवेश करना पड़ता है, किन्तु उससे भी अधिक अन्धेरे में वे प्रवेश करते हैं, जो हिरण्यगर्भ नामक सम्भूति पद वाच्य कार्य ब्रह्म में निरत हैं।

विद्या और अविद्या के अर्थ के समान ही सम्भूति एवं असम्भूति के व्याख्यान में भी अनेक विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। उन सभी कल्पनाओं का निराकरण यहाँ सम्भव नहीं एवं इष्ट भी नहीं है। हम तो शाङ्कर-भाष्य-सम्मत अर्थ को सिद्धान्त मानकर विचार करना उचित समझते हैं।

भाष्य में सम्भूति का अर्थ कार्य ब्रह्म और असम्भूति का अर्थ कारणब्रह्म किया गया है।

नामरूप (कार्य जगत्) उपाधि से विशिष्ट चेतन को सम्भूति पद से कहा गया है। क्षुद्रजन्तु

१. सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिरिति—धर्मशब्दो धर्मिणि लाक्षणिकस्तेजोऽतिशयवति तेज एवायमितिवत्। छान्दसो वा मतुपोलुगित्यभिप्रायः संभूत्यां रता इत्यत्र तथैव योगादसंभूतिपदेऽपि नञ्बहुव्रीहिर्नादृत इति ध्येयम्।

२. सांख्याभिमतां प्रकृतिं वारयति—अविद्याऽव्याकृताख्येति। "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे," इति मन्त्रवर्णात्। तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदिति श्रुतेश्चेति भावः। ३. अविद्यायाः कारणत्वमुपपादयितुं विशिनष्टि—कामेत्यादिना। अविद्या नाम नात्र विद्याऽभावो येन हिरण्यगर्भादिभावोपादानत्वासंभवः किन्तु त्रिगुणात्मकभावरूपा वास्तस्या विद्यायाविरोधादविद्यात्वमित्याशयेनाह—कामेति। ४. संभवनं संभूतिरित्याद्युक्तविधया कार्यसामान्यवचनोऽपि संभूतिशब्दोऽत्र हिरण्यगर्भमेव परामृशति। तस्यैव कार्येषु प्राथम्यात्प्राणादिभावेन चोपनिषत्सु बहुधोपास्यत्वश्रवणादित्याशयेन संभूतिशब्दं व्याख्याति—कार्येत्यादिना। ५. साक्षादिति—मायोपधानं विनेत्यर्थः। विकारावति च तथाहि स्थिति माहेति ब्रह्मणोनिर्विकारत्व निश्चयान्मायोपाधिकस्यैव प्रकृतित्वं मायायामेवपर्यवस्यतीति भावः।

६. ब्रह्मणोऽपि परिणामवादिनं तु ग्रन्थान्तरे शिक्षितवन्त एव वयमित्याह—भास्करेति। ७. ननु सुखस्यैव पुरुषेणार्थ्यमानत्वात्प्रकृतिलयस्य च सुखरूपत्वाभावात्कथंपुरुषार्थत्वं तत्राह-सांसारिकेत्यादि। सुखस्येव दुःखाभावस्यापि पुरुषार्थत्वादिति भावः। सुषुप्तौ स्वरूपसुखस्य सत्त्वेऽप्यावृतत्वादिनाऽस्फुटत्वेन तदुपेक्ष्य दुःखानुभवाभावेनैव पुरुषार्थत्वमुक्तमिति ध्येयम्।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

[कार्य ब्रह्म की उपासना से अन्य ही (अणिमादि ऐश्वर्यरूप) फल बतलाते हैं तथा अव्यक्त की उपासना से (प्रकृतिलय रूप) अन्य ही फल बतलाते हैं ऐसा हमने बुद्धिमान् पुरुषों से सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उस (फल के सहित व्यक्त और अव्यक्त उपासना) की व्याख्या की थी ॥१३॥]

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—अन्यदेवेति । अन्यदेव पृथगेवाऽऽहुः फलं संभवात्संभूतेः कार्यब्रह्मोपासनादणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः। तथा चान्यदाहुरसंभवादसंभूतेरव्याकृतादव्याकृतोपासनाद्यदुक्तमन्धं तमः प्रविशन्तीति प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इत्येवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

दुःखानुभवाभावेन चसुषुप्तिवत्प्रकृतिलयस्य पुरुषेणार्थ्यमानताऽप्युपपद्यते । फलं च कर्मोपासन इव प्रकृत्यु-

---

से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी कार्य ब्रह्म के अन्तर्गत आ जाने से सम्भूति पद के अर्थ हैं, एवं सम्पूर्ण नामरूप का कारण अव्यक्त प्रकृति से विशिष्ट चेतन ही असम्भूति पद का अर्थ होता है। इन दोनों कार्यब्रह्म तथा कारणब्रह्म की समुच्चयरूप से उपासना ही इस प्रसङ्ग में बतलाई जा रही है।

यह बात ध्रुव सत्य है कि जब तक प्रकृति एवं उसके कार्य ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी से सर्वथा असङ्ग कार्य-कारण से अतीत सर्वाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य का आत्मरूप से साक्षात्कार नहीं हो जाता है, तब तक कर्तव्य की शृंखला से कोई छूट नहीं सकता है। ऐसी स्थिति में शास्त्रविहित कर्म एवं उपासना का परित्याग करने पर उसे अवश्यमेव प्रत्यवाय का भागी होना पड़ेगा। शास्त्रविधि का परित्याग करके भी कर्म पाश से तो जीव बन्धा ही रहता है। अतएव गीता में कहा गया कि 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।' (गी० ३।५) अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न गुणों से बन्धा हुआ व्यक्ति क्षणभर भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता, वह परवश काम करता है। फिर वेदविहित कर्म का परित्याग कर पाप का भागी क्यों बने ? अतः सहस्र माताओं से भी बढ़कर वात्सल्य प्रेमवाली श्रुति भगवती प्राणीमात्र के लिये उचित मार्ग का प्रदर्शन कर रही है ॥ १२ ॥

स्वतन्त्र व्यक्त और अव्यक्त उपासना का फल

पहले मन्त्रों में कर्म एवं देवोपासना के समुच्चय का फल बतलाया गया है वही सम्भूति तथा

---

१. अवयवफलभेदमिति—एकैकस्य फलभेदमित्यर्थः। समूहस्यैकैकमवयवो भवति । २. प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इति—यथाहुस्ते "दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पूर्ण सहस्रं त्वाभिमानिकाः । बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः । पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते" इति । अत्राव्यक्तं प्रकृतिस्तच्चिन्तकास्तत्रैव लीनाः सन्तः पूर्णं शतसहस्रं मन्वन्तराणि तिष्ठन्ति । इत्येष तेषां प्रकृतिलयो वायुपुराणोक्तः । इमे च श्लोका भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानामिति योगसूत्रे भाष्यादावुद्धृता ।

असम्भूति की उपासना का नहीं है, किन्तु उसकी अपेक्षा विलक्षण है।

इस संसार में आये हुए मानव अज्ञान दशा में एक दूसरे की अपेक्षा रखता है, इसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। संसार में अन्य की अपेक्षा रखने वाला व्यक्ति अन्य के प्रति यदि अपने कर्तव्य का उत्तरदायित्व निभाता हो, तो वह निश्चित ही मानव कहा जायगा, अन्यथा दानव की पंक्ति में उसे बैठना पड़ेगा।

यह संसार मायाविशिष्ट चेतन का ही नानात्व है और यदि इसे परमेश्वर का रूप मानकर इसकी सेवा की जाय, तो निश्चित ही कार्य ब्रह्म की उपासना हो जाने के कारण उसे अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी। अन्यथा उसे उक्त ऐश्वर्यादि से वंचित रहना पड़ेगा। इसे 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' इस तेरहवें मन्त्र से श्रुति स्वयं बतला रही है। वैसे ही अव्याकृत प्रकृति से विशिष्ट चेतन की उपासना करने वाले को अन्य ही फल बतलाया गया है, अर्थात् अव्याकृत की उपासना से प्रकृति में विलयरूप फल पौराणिकों ने भी कहा है, उसे असम्भूति की उपासना करने वाले प्राप्त कर लेते हैं। प्रकृति में विलय होना जड़ता की प्राप्ति है, क्योंकि प्रकृति जड़ है। उसमें विलीन होनेवाला व्यक्ति जाड्य धर्म से आक्रान्त हो जाता है। इस रहस्य को जानने वाला असम्भूति की उपासना कर चेतन से जड़ क्यों होने लगे और भला जड़ प्रकृति फल भी कैसे दे सकेगी? इसका उत्तर यह है कि यथा कर्म और उपासना का फल देवताओं के माध्यम से परमेश्वर ही देता है, वैसे ही प्रकृति की उपासना करने पर भी फल देने वाला तो परमेश्वर ही है, एवं प्रकृति में विलीन होने पर सुषुप्ति के जैसे दु:खों का अभाव हो जाने से सुषुप्ति के समान ही प्रकृति में विलय की आकांक्षा हो सकती है। अतएव कुछ दार्शनिकों ने दुःख के अत्यन्ताभाव को ही मोक्ष मान लिया है। सम्भूति एवं असम्भूति की पृथक्-पृथक् उपासना के फल का व्याख्यान मनीषी, तत्त्वदर्शी ऋषियों के मुख से हमने सुना है। दोनों के फल बतलाने का तात्पर्य यही है, कि यदि पृथक्-पृथक् अनुष्ठान का फल न कहे होते, तो समुच्चय अनुष्ठान से भी कैसे फल मिलेगा? एक तिल में तेल देने का सामर्थ्य है, इसलिये तिलसमूह से तेल निकलता है। सिकता के एक कण से तेल नहीं निकलता। अतः सिकता-समूह से भी तेल नहीं निकलता है। तदनुसार सम्भूति एवं असम्भूति की उपासना का भी फल होना ही चाहिये, अन्यथा समुच्चयानुष्ठान ही निष्फल हो जायेगा।

पृथक्-पृथक् अनुष्ठान की निन्दा का तात्पर्य समुच्चय विधान में ही है, न कि निन्दा में। वैसे ही एक के अनुष्ठान से फल और दूसरे के अनुष्ठान से फल न हो, तो दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव होने से समुच्चय नहीं बन सकता है।

यदि कार्य ब्रह्मरूप सम्पूर्ण प्राणियों के साथ मानवता एवं अपने उत्तरदायित्व का परित्याग कर केवल अव्याकृत प्रकृति विशिष्ट चेतन की उपासना में लग जाता है, तो उसे अवश्य प्रकृति में विलीन होने से कुछ काल के लिये सुषुप्ति के समान दुःखाभाव का अनुभवरूप फल होगा, किन्तु उस उपासना का फल निस्सीम नहीं है। अतः सुषुप्ति से जागने के समान प्रकृति विलय से उत्थान होने पर उसे अत्यधिक दुःख का अनुभव करना पड़ेगा, क्योंकि स्वकर्त्तव्य का परित्याग करने से अव्याकृत की उपासना काल में पाप का सञ्चय भी तो होता ही है, जिसके फलस्वरूप उसे पश्वादि योनियों में भी जाना पड़ेगा। अतएव 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' इस वाक्य से अव्याकृत की उपासना करनेवाले को अन्धेरे में प्रवेश करना बतलाया गया है। वैसे ही अव्याकृत-विशिष्ट परमेश्वर (कारण ब्रह्म) की उपासना का परित्याग कर केवल इस प्रपञ्चरूप कार्य ब्रह्म में रत रहनेवाले को उसकी अपेक्षा भी घोरतम अन्धेरे में प्रविष्ट होना बतलाया गया है, क्योंकि समष्टि भावना का परित्याग कर देने से उत्तरोत्तर व्यष्टि भावना प्रबल हो

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

[जो असम्भूति (अव्यक्त प्रकृति) और कार्य ब्रह्म, इन दोनों को साथ-साथ (एक पुरुष से अनुष्ठेय) जानता है वह कार्य ब्रह्म की उपासना से (अनैश्वर्य, अधर्म कामादि दोष रूप) मृत्यु को पारकर असम्भूति के द्वारा (प्रकृतिलय रूप) अमरत्व को प्राप्त करता है ॥१४॥]

---

[1]यत एवमतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्त एवैक [2]पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह--संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह । विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन धर्मिणाऽभेदेनोच्यते विनाश इति । तेन तदुपासनेना[3]नैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा [4]हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलम् । तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्यासंभूत्याऽव्याकृतोपासनयाऽमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते । [5]संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः । [6]प्रकृतिलयफलश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

पासनेऽपि परमेश्वर एव दास्यति । [7]ततो जडत्वात्प्रकृतेः फलदातृत्वानुपपत्तेरुपास्यत्वानुपपत्तिरित्यपि कुचोद्यमेव ॥१२॥ १३॥ १४॥

जाती है और अन्त में वह व्यक्ति अपने शरीर एवं विषय भोग को ही जीवन का सर्वस्व समझने लग जाता है, क्योंकि पर्वत से गिरे हुये पत्थर को अन्यत्र सहारा मिलना दुःशक्य है, वह तो समतल भूमि में आकर ही टिक सकता है। ऐसी भावनाओं का उत्कर्ष एवं अपकर्ष होता ही रहता है। इसलिये अव्याकृत की अपेक्षा कार्य ब्रह्म की उपासना करनेवाले को घोरतम अन्धेरे में जाना बतलाया गया है।

यों तो कोई भी व्यक्ति कार्य जगत् का चिन्तन सर्वथा छोड़ नहीं सकता, क्योंकि शरीर का निर्वाह भी कार्य जगत् के चिन्तन बिना हो नहीं सकता, फिर अन्य बातों का होना तो दूर ही रह गया। अतः दोनों के समुचितरूप से चिन्तन के लिये एक-एक की पृथक्-पृथक् उपासना की निन्दा की गयी है एवं फल भी बतलाया है ॥१३॥

व्यक्ताव्यक्त समुच्चयोपासना का फल

व्याकृत तथा अव्याकृत उपासनाओं का भी फल है, इसलिये ही दोनों का समुच्चय बतलाना युक्ति युक्त है। यहाँ पर भी विद्या एवं अविद्या की सहसमुच्चयोपासना के समान एक ही पुरुष से

---

१. यत एवमत इति—यतः प्रत्येकं फलभेदः श्रूयते तस्मादित्यर्थः । २. एकपुरुषार्थत्वादिति—बहुकालमैश्वर्यसुखानुभवपूर्वकदुःखानुभवाभावरूपैकपुरुषार्थहेतुत्वादिति यावत् । नासौ समुच्चयानुष्ठानमन्तरेण सद्यः शक्यो लब्धुमिति भावः । ३. अनैश्वर्यादेरेव मरणहेतुत्वादिह मृत्युत्वेन विवक्षितमित्याशयेन मृत्युपदं व्याचष्टे—अनैश्वर्यमित्यादिना । ४. कुतस्तेन तादृशमृत्युतरणं तत्राह—हिरण्यगर्भेत्यादि । यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति श्रुतेरणिमादिसम्पन्नो हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भावयतस्तादृशफलावाप्तेरौचित्यादिति भावः । ५. संभूतिं च विनाशं चेत्यत्रावर्णलोपेन निर्देश इति—अकारलोपश्छान्दस इति भावः । पूर्वमन्त्रेण साकमस्यमन्त्रस्य संहितापाठे नु एङःपदान्तादतीति पूर्वरूपत्वमपि शक्यमवगन्तुमिति ध्येयम । ६. प्रकृतिलयश्रुत्यनुरोधादिति—अमृतत्वस्य प्रकृतेऽर्थान्तरत्वासंभवादसंभूत्युपासनमन्तरेण च प्रकृतिलयाख्यामृतावाप्त्यनुपपत्तेरिति भावः । ७. फलं चेदयाद्युक्तिनिवर्त्यं शङ्काभासं भासयति—तत इत्यादिना ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

[आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि-समष्टि अहंकार-रूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। अतः हे पूषन् ! मुझ सत्य धर्मा जिज्ञासु को उस सत्यात्मा की उपलब्धि कराने के लिये तू उस आवरण को हटा ले ॥१५॥]

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं [1]शास्त्रलक्षणं [2]प्रकृतिलयान्तम् । एतावती [3]संसारगतिः ।

विस्तरेणोक्तमर्थजातं संक्षिप्योपसंहरति—मानुषदैववित्तसाध्यमित्यादिना । शरीरपाटवं गोभूहिरण्यादिसाधनसंपत्तिश्च मानुषं वित्तम् । दैवं वित्तं देवताज्ञानमुत्तरग्रन्थस्य संबन्धाभिधित्सयाऽ-

---

सम्बन्धित होने के कारण एक साथ एक ही पुरुष से अनुष्ठान के लिये सहसमुच्चय का विधान करना इष्ट है। इसलिये श्रुति कहती है कि असम्भूति और विनाश इन दोनों को जो कोई एक साथ अष्ठेयनु समझता है, वह व्यक्ति विनाश अर्थात् हिरण्यगर्भ की उपासना से अणिमादि ऐश्वर्य के अभावरूप मृत्यु कोपारकर असम्भूति (कारण ब्रह्म)की उपासना से प्रकृति में विलयरूप अमृत को प्राप्त करता है।

तेरहवें मन्त्र के अन्त में 'तद्विचचक्षिरे' पद आया है एवं चौदहवें मन्त्र के प्रारंभ में सम्भूति पद आया है जो असम्भूति अर्थ में प्रयोग किया गया है । संहिता-पाठ में असम्भूति के अकार का 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप हो जाने के कारण अकार दीखता नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो सम्भूति और विनाश का समान अर्थ हो जाता है, क्योंकि विनाश धर्म ही जिसका, ऐसे कार्य को ही विनाश शब्द से कहा गया है और वही सम्भूति पद का भी अर्थ है। अतः संहिता पाठ का अनुसरण कर असम्भूति छेद करना ही उचित है, या अकार का लोप मान लेना चाहिये ।

इस मंत्र में ऐश्वर्य का अभाव, अधर्म एवं कमादि सम्पूर्ण मानसिक दोषों को मृत्युपद से कहा गया है। अज्ञान दशा में आणिमादि ऐश्वर्य के अभाव को मृत्यु एवं अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति को जीव अमृत मानता है शास्त्रदृष्टि से अधर्म नरकादि दुःख-प्राति के साधन होने के कारण, वह भी मृत्युरूप ही है तथा कामक्रोधादि शरीर एवं अध्यात्मबल के नाशक होनेके कारण साक्षात् मृत्युरूप है ही। इन सभी को विनाश-पद वाच्य हिरण्यगर्भ की उपासना से पार किया जा सकता है, क्योंकि हिरण्यगर्भ उपासना का फल ऐश्वर्य की प्राप्ति बतलाई गयी है। कार्य जगत् को हिरण्यगर्भ का शरीर मानकर सदा ईश्वर भावना से चिन्तन किया जाय, तो इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोकों के ऐश्वर्य उसके लिये सुलभ हो जाते हैं। इनके उपानओ में अन्तर हो सकता है, किन्तु ये सब कार्य-ब्रह्म की ही उपासना मानी जायेंगी। जिनका फल सद्यः तथा शीघ्र मिलता है । ऐसा स्मृतियों में 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाचितुमिच्छति' इत्यादि श्लोक से स्पष्ट रूप से कहा गया है । वस्तुतः वहाँ पर फल देनेवाला परमेश्वर ही है।

योग—दर्शन में अनेक प्रकार की विभूतियों की प्राप्ति भी कार्यब्रह्म की उपासना का ही फल बतलाया गया है। जिन फलों को देख कर योग में श्रद्धा होती है और वह साधक तत्परता से उसके

---

१. शास्त्रलक्षणमिति—शास्त्रेण लक्ष्यमाणं ज्ञाप्यमानमिति यावत् । २. प्रकृतिलयान्तमिति—पितृलोकादिप्रकृतिलयावधीत्यर्थः । प्रकृतिलयपर्यन्तमिति यावत् । ३. संसारगतिरिति—संसारान्तःपात्येव फलमित्यर्थः ।

अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्यासज्ञाननिष्ठा-फलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिप्रतिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य प्रकाशनेऽत ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तं तत्र निषेकादिश्मशा-

र्थविशेषमनुवदति—तत्र निषेकादीत्यादिना । तदुक्तमिति तं प्रत्युक्तं मन्त्रेण विद्यां चेत्यादिनाऽऽ-पेक्षिकामृतत्वं फलमित्युक्तमस्माभिरिति ॥१५॥

अभ्यास में लग जाती है । अतः विनाश की उपासना से ऐश्वर्यादि के अभाव रूप मृत्यु को पार कर के अव्याकृत की उपासना से प्रकृति में विलयरूप अमृत को प्राप्त कर लेती है ।

यद्यपि प्रकृति में विलय होना अमरत्व नहीं है, क्योंकि उपासना का वेग शान्त होने पर पुनः जन्म-मरणादि दुःख को प्राप्त करता ही है, फिर भी जैसे देवलोक की प्राप्ति को चिरस्थायी होने के कारण अमृत कहा गया है, वैसे ही चिरकाल तक संसारिक दुःखाभाव का अनुभव होने से प्रकृतिलय को भी गौण दृष्टि से अमृत कहा गया है ॥१४॥

उपासक की मार्ग याचना

नवम मंत्र से लेकर चतुर्दश मंत्र पर्यन्त वर्णन किये गये कर्म एवं देवोपासना के समुच्चय तथा कार्यब्रह्म एवं कारणब्रह्म के समुच्चय की उपासना से उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचा हुआ उपासक मोक्षाभिलाषा से आवरण भङ्ग के लिये परमात्मा के सामने अगले दो मंत्र से प्रार्थना करता है ।

कार्य-कारणरूप आदित्य मण्डलस्थ पुरुष ही पूर्वोक्त दोनों समुच्चयों से प्राप्त करने योग्य है । अत एव प्रार्थना करता है कि 'हे पूषन् ! आप सम्पूर्ण संसार का पोषक होने के कारण कार्य-कारण रूप से पूषादेव हो । आप सुवर्ण विकार के समान ज्योतिर्मण्डलरूप हिरण्यपात्र से बाधरहित सत्य के आच्छादित मुख को आवरण रहित कर दो, क्योंकि सत्यस्वरूप आपका मैं दर्शन करना चाहता हूँ' ।

अब तक जिसे विस्तारपूर्वक बतलाया गया, उसी अर्थ का संक्षेप-रूप से भाष्यकार उपसंहार कर रहे हैं —स्वस्थ शरीर, गौ, भूमि, सुवर्णादि साधन सम्पत्ति को मानुषवित्त, एवं देवताज्ञान को दैववित्त कहते हैं । इनसे सिद्ध होनेवाला फल इस लोक से लेकर प्रकृति विलय होने तक बतलाया गया है । इस विषय में शास्त्र प्रमाण है । ये सब संसार गतियाँ हैं, अर्थात् इन्हें प्राप्त कर लेने के बाद पुनः संसार में आना पड़ता है, किन्तु इसके बाद होनेवाला जो फल है, वह तो लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा इत्यादि सम्पूर्ण एषणाओं का संन्यास कर ज्ञान में निष्ठा प्राप्तिरूप सर्वात्मभाव ही बतलाया गया है, जिसे 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः' इत्यादि मंत्र से पहले ही बतलाया गया है । सर्वात्मभाव

१. अतः परम्=अत ऊर्ध्वं संसारबाह्यं नित्यमिति यावत् । २. एवमिति—यथोक्तफलभेदपुरस्कारेणेति यावत् । ३. प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमिति—बृहदारण्यकस्यादितोऽध्यायद्वयात्मकं प्रवर्ग्यरूपकर्मान्तकर्मसमूहप्रतिपादकं ब्राह्मण-मित्यर्थः । ४. उपयुक्तम्—अर्थवदित्यर्थः । ५. अत ऊर्ध्वमिति—प्रवर्ग्यान्तब्राह्मणानन्तरं तृतीयाध्यायमारभ्य प्रवृत्तमिति यावत् । ६. निषेकादिश्मशानान्तमिति—गर्भाधानादारभ्यान्त्येष्टिपर्यन्तमित्यर्थः । ७. आपेक्षिक-ममृतत्वमिति—उपास्यदेवतात्मभावावाप्तिरूपमित्यर्थः । ननु साक्षान्निष्प्रपञ्चब्रह्मावाप्तिरूपं निरपेक्षं निरतिशयममृतत्वम् । एतेन निष्काम समुच्चयानुष्ठानस्य निरतिशयामृतत्वहेतुत्वेऽपि देवतात्मप्राप्ति द्वारकत्वादा-पेक्षिकत्वोक्तिरक्षतेति ध्येयम् ।

नान्तं कर्म कुर्वञ्जिजीविषेद्यो विद्यया सह[1]परब्रह्मविषयया तदुक्तं विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इति । तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत [2]इत्युच्यते—[3]तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष [4]एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीनो [5]यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते [6]सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते हिरण्मयेन पात्रेण । हिरण्मयमिव हिरण्मयं

की प्राप्ति सद्यः तथा क्रमशः बतलायी गयी है। उनमें से तत्त्वज्ञानियों को तो तत्त्व-क्षण में ही सर्वात्मभाव की प्राप्ति श्रुति में बतलायी गयी है, किन्तु पूर्वोक्त दोनों प्रकार के समुच्चय की उपासना से विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष को अर्चिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोक में जाने पर ब्रह्मा के प्रलय काल में वहाँ तत्त्वज्ञान सर्वात्मभाव को प्राप्ति होती है। तदर्थ मार्ग-याचना का प्रसङ्ग प्रारम्भ कर रहे हैं।

वैसे ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति भेद से दो प्रकार का वेदार्थ भी यहाँ पर बतलाया गया है। उनमें 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' ऐसे विधिरूप और 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः,' ऐसे निषेधरूप से प्रवृत्तिलक्षण वेदार्थ के दो भेद किये हैं। इन सभी विधि-निषेधरूप वेदार्थ के प्रकाशन में प्रवर्ग्य उपयुक्त हैं। इसके आगे निवृत्तिरूप वेदार्थ के बतलाने में बृहदारण्यक का उपयोग किया गया है। उनमें भी गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त सम्पूर्ण कर्म को करता हुआ जो जीना चाहता है, वह अपर ब्रह्मविषयक विद्या अर्थात् उपासना के साथ कर्मानुष्ठान करें। इसी को 'विद्याञ्चाविद्याञ्च' इत्यादि मंत्र से कहा गया है। इन दोनों के समुच्चयानुष्ठान से अमृतत्व की प्राप्ति बतलायी गयी है। पर किस मार्ग से जाने पर वस्तुतः अमृतत्व प्राप्त करता है, इस प्रश्न का उत्तर अन्यत्र तथा यहाँ भी दिया गया गया है। यथा 'वह जो सत्य है वही यह आदित्य है।' जो इस आदित्यमण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण नेत्र है, दोनों ही सत्यब्रह्म हैं। उसकी उपासना करनेवाला और जो शास्त्रविहित कर्म करनेवाला है, वह मृत्यु के समय आदित्यमण्डल आत्मा से आत्मा की प्राप्ति के द्वार की 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इत्यादि से याचना करता है।

पात्र उसे कहते हैं, जिसमें अपनी आवश्यक वस्तु को रखा जाय अथवा जिससे तृप्तिकारक

१. अपरब्रह्म—हिरण्यगर्भाख्यं कार्यब्रह्म। २. इत्युच्यत इति—इत्यपेक्षायां येनाश्नुते स मार्गो हिरण्मयेनेत्यादिनोच्यत इत्यर्थः। ३. ननु दक्षिणस्य पथः केवलकर्मिगन्तव्यतया समुच्चयकारिणामुत्तर एव पन्था इति तदर्थं स्वोपास्यदेवता हिरण्यगर्भ एवार्थनीयः। किमिति सूर्यो याच्यत इत्याशङ्कां शमयितुं बृहदारण्यकश्रुतिमाश्रित्याह—तद्यदित्यादि। तद्यत्सत्यं ब्रह्म पूर्वमुपास्यमुक्तं तदसौ स प्रसिद्ध आदित्यः स च न मण्डलमात्रं किन्तु तदभिमानीपुरुषो दक्षिणाक्षिपुरुषाभिन्न इत्यर्थः। दक्षिणेऽक्षन्पुरुष इत्यनन्तरं तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति इति श्रुतिशेषः। अयं चाक्षुषः प्राणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैर्मण्डलं प्रकाशयन्नमुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठित इत्यर्थः।

४. अत्र च श्रुतौ चाक्षुषपुरुषाभिन्नो हिरण्यगर्भ एव मण्डलाभिमानितयाऽवस्थितः सन्नुपास्यतयाऽवगत इति स एव मार्गार्थमभ्यर्थनीय इत्याशयेनाह—एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीन इति। समुच्चये तस्यैवोपास्यत्वादिति भावः।

५. यथोक्तकर्मकृच्चेति—वेदे यथोक्तानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि तानि तथैव करोतीति यथोक्तकर्मकृदित्यर्थः। उपास्तिसमुच्चयार्थश्चकारः। समुच्चयकारीति यावत्। ६. सत्यात्मानमित्यादि—आत्मनः स्वस्य सत्यात्मप्राप्तिद्वारं तदवाप्तिमार्गं सत्यात्मानं स्वोपास्यं याचत इत्यन्वयः। "अकथितं चेत्यत्र दुह्याजित्यादिनियमेन याचतेर्द्विकर्मकत्वम्।

ज्योतिर्मयमित्येतत् । [1]तेन पात्रेणेवापिधानभूतेन सत्यस्यैवाऽऽदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणो-ऽपिहितमाच्छादितं मुखं [2]द्वारं [3]तत्त्वं हे पूषन्नपावृण्वपसारय सत्यधर्माय तव सत्यस्यो-पासनात्[4]सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्य[5]मथवा यथाभूतस्य धर्मस्यानु-ष्ठात्रे दृष्टये तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

रसादि का पान किया जाय। समय-समय पर ऐसा पात्र किसी वस्तु को ढाँकने में भी काम आता है। ऐसे पात्र मिट्टी, लोहे, ताम्बे, पीतल, चांदी आदि अनेक धातुओं के होते हैं, जो टूट जाते हैं, एवं प्रखर अग्नि से जलकर राख में भी मिल जाते हैं, किन्तु सुवर्ण एक ऐसा धातु है, जो प्रकृष्ट अग्निसंयोग से भी जलता नहीं, बल्कि अग्निदाह से और अधिकाधिक चमक उठता है। ऐसे स्वर्ण-पात्र के समान जो पात्र है, उसी को 'हिरण्मयेन पात्रेण' शब्द कहा से गया है, वह अहंकार ही है। व्यष्टि तथा समष्टि भेद से अहंकार दो प्रकार का होता है। इसी अहंकार में प्राणियों के शुभाशुभ कर्म उनके संस्कार, वासना एवं कामनादि बैठे रहते हैं। तत्त्वज्ञान के बिना इन कामनाओं का आधारभूत जो यह अहंकार है, उसका कभी भी नाश नहीं होता। इसी अहंकार से स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों के द्वारा अपनी रुचि के अनुरूप शब्दादि विषयों का रस लेता रहता है। यह अहंकार अपने अधिष्ठान कूटस्थ आत्मा तथा व्यापक-ब्रह्म को ढाँकता रहता है। इसलिये पात्र के तीनों ही गुण इसमें विद्यमान होने एवं सुदृढ़ होने के कारण इस अहंकार को हिरण्मयपात्र शब्द से कहा गया है। अनादि काल से आजतक एवं तत्त्वज्ञान के अभाव में अनन्त काल तक भी यह अहंकार उस सत्य आत्मा को ढाँके बिना नहीं रह सकता।

आश्चर्य तो यह है कि जिस चेतन से इस व्यष्टि-समष्टिरूप अहंकार में सत्ता एवं स्फूर्ति आती है, उस अपने प्रकाशक चेतन को भी इसने ढाँक रखा है। स्वयं भी यह प्रकाशमय प्रतीत होता है, जो कि उसी अपने अधिष्ठानरूप चेतन आत्मा से इसने प्रकाश उधार ले रखा है। ऐसे उधार चमक-दमक से सज-धज कर लोक में अपनी ख्याति फैलाने के लिये साधारण पामर से लेकर बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ के हृदय में भी इसने अपना अधिकार कर रखा है। व्यष्टिरूप से यह अहंकार सर्वानुभव सिद्ध है और समष्टि-रूपसे विद्यमान इस अहंकार को अनुमान एवं श्रुति से सिद्ध किया जा सकता है। यह अहंकार प्राणिमात्र में अनादिसिद्ध है, और कुछ शास्त्र के आधार पर पीछे से और भी आरोप कर लिया जाता है। सद्योजात शिशु में केवल अनादि सिद्ध मात्र अहंकार होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों वह समाज के सम्पर्क में आता है, त्यों त्यों उसका मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, संन्यासित्व एवं राष्ट्रीयता का अभिमान बढ़ता चला जाता है और वह अपने आपको चतुर, चालाक मानने लग जाता है, किन्तु वस्तुतः उस सत्य के ऊपर दोहरा परदा पड़ना माना जायेगा। कोई धीर, वीर, शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से इस हिरण्मय पात्र के सदृश सत्य के आवरक इस अहंकार को कुचलने में समर्थ हो पाता है। ऐसे हिरण्मय पात्र से आदित्यमण्डलस्थ सत्यब्रह्म का मुख अर्थात् प्राप्तिद्वार आच्छादित है। अतएव उस समष्टि-व्यष्टि अहंकार सत्य के आच्छादक को हटाने के लिए उसी सत्य-तत्त्व से साधक प्रार्थना करता है। चाहे उस अहंकार

---

१. तेन पात्रेण=पात्रतुल्येन तेजोमण्डलेनेत्यर्थः। २. द्वारमिति=प्राप्तिमार्गमिति यावत्। ३. तत्=पात्रम्।
४. उपासनाख्यस्य धर्मस्य तदुत्थापूर्वविशेषरूपस्य वा धर्मस्योपास्यदेवताऽधीनत्वादुपास्ये ब्रह्मणि धर्मत्वमारोप्याह—सत्यमित्यादि। सत्याख्यं ब्रह्मैव धर्मो यस्य ममेत्यर्थः। ५. धर्मविशेषणं वा सत्यशब्दस्तथा च सत्योधर्मोयस्येत्येव विग्रह इत्याशयेनाह—अथवा यथाभूतस्येत्यादि।

के हटाने में स्वयं साधक असमर्थ हो, किन्तु उसकी प्रार्थना सुनकर वह सत्य स्वयं ही अपने ऊपर रहे हुए आवरण को सत्यतत्त्व के दर्शन के लिये हटा लेता है। शर्त केवल इस बात की है, कि वह सत्यधर्मा होवे। वह भी सत्य की उपासना से ही प्राप्त होता है। साधन के प्रारम्भ में उस सत्य आत्मा के प्रति साधक के मन में उतना आग्रह नहीं होता, जितना कि साधन की परिपाक अवस्था में होता है। यों तो कुछ न कुछ सत्य के प्रति आग्रह सब किसी के मन में है, किन्तु इतने मात्र से वह सत्याग्रही या सत्यधर्मा नहीं कहलायेगा। फल खाने वाले सभी को फलाहारी नहीं कहते किन्तु जो केवल फल ही खाता है अन्य वस्तु नहीं खाता, तो ऐसे व्यक्ति को लोक में फलाहारी कहते हैं, वैसे ही कदाचित् असत्य अनात्मा के प्रति आग्रह हो और कदाचित् सत्य आत्मा के प्रति भी आग्रह हो, तो वह इतने मात्र से सत्यात्मा नहीं कहा जा सकता, किन्तु असत्य अनात्मा के प्रति आग्रह का सर्वथा परित्याग कर केवल आत्मा का आग्रह हो, तो इसी कीमत से सत्याग्रही की प्रार्थना सुनकर वह सत्य तत्त्व उस सुदृढ़ हिरण्मय पात्र के सदृश समष्टि-व्यष्टि अहंकार को पृथक् कर देता है, जिससे उस सत्य तत्त्व की उपलब्धि साधक को हो जाती है। इसी बात को पञ्चदश मन्त्र में बतलाया गया है। अन्यत्र भी 'असतो मा सद् गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' इत्यादि मन्त्र से इसी बात को बतलाया गया है।

इस मन्त्र में परमात्मा को पूषा शब्द से सम्बोधित किया गया है। 'पुष्यतीति पोष्टा, पूषा' अर्थात् पुष्टि अर्थवाले पुष् धातु से पूषा शब्दनिष्पन्न हुआ है। सम्पूर्ण विश्व में सत्ता एवं स्फूर्ति प्रदान कर परमात्मा ही सबका पोषक है। शरीर का पोषण अन्न से होता है किन्तु ज्ञान का पोषण शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से होता है। परमेश्वर सब का गुरु है। 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इस योगसूत्र से भी परमेश्वर ही सबका गुरु है एवं उपास्य है। अतः पूषा शब्द से सम्बोधित कर सत्यधर्मा जिज्ञासु हिरण्मय पात्र रूप अहंकार-सत्य के आवरक को हटाने के लिये परमेश्वर से प्रार्थना कर रहा है, क्योंकि आवरण के हटने पर ही सत्यधर्मा अधिकारी सत्य-तत्त्वरूप परमेश्वर का दर्शन कर सकेगा।

मन्त्र में 'दृष्टये' शब्द का अर्थ साक्षात्कार होता है। वह परब्रह्म सदा अपरोक्ष रूप है, किन्तु अनादि अविद्याजन्य अनात्माभिमान के कारण ढंका हुआ-सा प्रतीत होता है। आवरण हटते ही उसका साक्षात्कार हो जाता है।

वास्तव में पूछा जाय तो, वह अहंकार रूप आवरण सत्य तत्त्व को नहीं ढाँकता, किन्तु साधक की दृष्टि को ढाँकता है। बादल सूर्य को नहीं अपितु सूर्य को देखनेवाले पुरुष की दृष्टि को ढाँकता है। फिर भी अविवेकी पुरुष, बादल से सूर्य ढंक गया, ऐसा कहता है। इसी को 'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा' इत्यादि वाक्य से आचार्यों ने बतलाया है। मानस में भी तुलसीदास जी ने कहा है कि 'यथा गगनघन पटल निहारी। झंपेऊ भानु कहहिं कुविचारी' इत्यादि। अतः यहाँ पर भी अनादि अविद्याजन्य अनात्माभिमान उस साधक की दृष्टि को ही ढाँक रहा है, सत्य परमात्मा को नहीं। सत्य एक सार्वभौम धर्म है, वह किसी सम्प्रदाय विशेष, आचार्यविशेष, ग्रन्थविशेष या देशविशेष से परिछिन्न नहीं है। जो तीनों काल में एकरस, अपरिवर्तनशील है, जिसके बिना नास्तिकों का भी अस्तित्व नहीं, ऐसे सत्यधर्म के अवलम्बन करने वाले साधक ही उसका साक्षात्कार कर सकते हैं।

सत्यधर्म अधिकारी एवं परमात्मा का भी विशेषण है। जो धर्म-सत्यरूप ही हो, जिसका धर्म

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्यव्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

[हे जगत् पोषक सूर्य ! हे एकाकी गमन करने वाले ! हे यम ! हे (प्राण और रस का पोषण करने वाले) सूर्य ! हे प्रजापति के लाडले ! तू अपने किरणों को हटा ले । जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूं, यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूं ॥१६॥]

---

[1]पूषन्निति । हे पूषन् । [2]जगतः पोषणात्पूषा रविस्तथैक एव ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः । हे एकर्षे । तथा [3]सर्वस्य संयमनाद्यमः । हे यम । [4]तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च

सत्य ही हो तथा जो सत्य का धारण करनेवाला हो, इन सभी को सत्यधर्मा कहते हैं । अतः मुझ सत्य-धर्म का अनुष्ठान करने वाले की सत्यधर्मा परमेश्वर ? अपने साक्षात्कार के लिये हिरण्मय पात्र सत्य के आवरण को हटा लो, यही इस मन्त्र का तात्पर्य है ॥१५॥

पिछले मन्त्र में हिरण्मय पात्र के सदृश सत्य के द्वार का आवरक समष्टि अहंकार को हटाने के लिये परमेश्वर से प्रार्थना की गयी है। अब प्रस्तुत मन्त्र में परमात्मा के अनेक सम्बोधनों से सम्बोधित कर आवरण हटाने के प्रकार को तथा सत्य की वास्तविकता को बतलाते हुये साधक स्पष्ट कह रहा है कि—मैं आपके उस कल्याणतम रूप को देखता हूं, क्योंकि वह समष्टि आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष तथा व्यष्टि शरीरस्थ पुरुष एक ही तो है। इसीलिये कहता है कि—हे पूषन ! हे एकाकी गमन करने वाले ! हे संसार का नियमन करने वाले यम ! हे प्राण और इसका शोषण करने वाले सूर्य ! हे प्रजापति नन्दन! तू अपनी किरणों को हटा ले, अर्थात् अपने तेज को समेट ले । तेरा जो अतिकल्याण-तम रूप है, उसे मैं देखता हूं । यह जो आदित्यादि मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूं ।

पूषन् शब्द का अर्थ पहले कर आये हैं । जगत् का पोषक होने से सूर्य को भी पूषा कहते हैं, क्योंकि सूर्य भी जड़ एवं चेतन सभी संसार के पदार्थों का प्रकाशक है । वैसे ही एकाकी जो चलता है उसे एकर्षी कहते हैं । यहाँपर 'हे एकर्षी!' इस सम्बोधन से परमात्मा में एकत्व (अद्वितीयत्व) बतलाया गया है । सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य तत्त्व को ही एकर्षी शब्द से कहा जाता है । जो परमात्मा ही हो सकता है, क्योंकि सत्य के सजातीय सत्य नहीं । विजातीय माया एवं उसके कार्य का अस्तित्व नहीं एवं निराकार होने से उस सत्य में अवयव नहीं, ऐसी स्थिति में उसमें सजातीय, विजातीय, स्वागत भेद कैसे हो सकते हैं ? ऋष्यति=गच्छतीति ऋषिः, अर्थात् ज्ञानस्वरूप । सूर्य

---

१. पूषन्निति— आत्मार्थेऽनुकूलयितु भगवन्तं सत्यात्मानं बहुमानं सम्बोधयन्नाहेत्यादिः । २. जगतः पोषणादिति— "अग्नौप्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा" इति स्मृतेरिति भावः ।

३. सर्वस्य संयमनादिति—अहोरात्रादिकालविभागेन नियतस्य लोकानां सर्वव्यवहारस्य सूर्यगत्यधीनत्वादिति भावः ।

४. स्वीकरोतीति सूर्य इति व्युत्पत्तिमाश्रित्याह—तथा रश्मीनामित्यादि । रश्मयो मरीचयः प्राणाश्चक्षुरादीनीन्द्रि-याणि रसाश्च जलप्रमुखानि द्रवद्रव्याणि । तत्र रश्मिरसस्वीकरणं व्यक्तमेव, प्राणानां स्वीकरणन्तु प्रश्नोपनिषदि वक्ष्यते । तथा च तत्र श्रुतिः "अथाऽऽदित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरादिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्त इति । सन्निधत्ते—सन्निवेशयति । स्वकिरणैर्व्याप्नोतीति यावत् । तदेव तेषां स्वीकरणमिति ध्येयम् ।

स्वीकरणात्सूर्यः । हे सूर्य । [1]प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः । हे प्राजापत्य । [2]व्यूह विगमय रश्मीन्स्वान् । समूह, एकी कुरु, उपसंहर ते तेजस्तापकं ज्योतिः । [3]यत्ते तव रूपं

प्रकाशक होने से विश्व का ज्ञानदाता एवं हिरण्यगर्भ समष्टि अन्तःकरण का प्रकाशक होने से ज्ञानी कहा जाता है । सम्पूर्ण संसार का नियमन करता है, इसलिये परमेश्वर को यम भी कहते है तथा संसार का जनक होने से उसे सूर्य भी कहा जाता है ।

'सूरिभिर्ज्ञानिभिर्गम्यते इति सूर्यः' अर्थात् जो ज्ञानियों से प्राप्त किया जा सकता है । ऐसे परमेश्वर को सूर्य कहा जाता है । प्रजापति के लाड़ले को प्राजापत्य कहते हैं, क्योंकि परमेश्वर ने प्रजापति को भी सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान प्रदान किया है । इन सभी शब्दों से परमात्मा को सम्बोधित कर अब साधक कार्य का निर्देश करता है । हे प्रभो ! आप अपनी रश्मियों को सम्यक् प्रकार से एकत्रित कर लीजिये, जिससे कि आपका वह तेजोमय अत्यन्त शोभनरूप आपकी कृपा से मैं देख सकूं ।

इस मंत्र में रश्मियों को एकत्रित करने के लिये परमात्मा से प्रार्थना की गयी है, जिसे पहले ही हिरण्मय पात्र शब्द से कहा गया था, उसी को यहाँ पर रश्मि शब्द से कहते हैं । अविद्या और अहंकार जिस प्रकार चेतन के आवरक हैं, वैसे ही चिदाभास युक्त अन्तःकरण की अहंता एवं ममतारूप वृत्तियाँ भी परमात्मतत्त्व के दर्शन में अवरोधक हैं । सूर्य के यथार्थ रूप के देखने में जैसे बादल समूह प्रतिबन्धक है, वैसे ही सूर्य की रश्मियाँ भी । बल्कि बादल तो केवल सूर्य के अदर्शन का कारण है, परन्तु रश्मियाँ तो देखने वाले पुरुष की दृष्टि को भी नष्ट कर देनेवाली भी हो जाती हैं । सूर्य के सौंदर्य, लावण्य एवं क्षियता का वस्तुतः दर्शन तो प्रातःकाल ही होता है । ठीक वैसे ही चिदाभास युक्त माया एवं अविद्या से उत्पन्न संसार तथा उसमें अहंता-ममताकार वृत्तियाँ रश्मि के समान लम्बायमान हैं, जिनसे द्रष्टा की दृष्टि का अवरोध ही नहीं होता, अपितु नाश होने का भी भय रहता है । इन किरणों को हटाने में वह परमात्म देव ही समर्थ है, साधक नहीं । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' एवं 'ये गुणसाधन ते नहीं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई' इन वाक्यों से भी यही बात बतलायी गयी है । परमात्मा सच्चिदानन्द है और निःसंदेह सम्पूर्ण जगत् में सत्ता स्फूर्ति एवं आनन्द रूपता उस परमेश्वर की ही है, किन्तु विषय सङ्ग से प्रतीत होनेवाला आनन्द जीव की दृष्टि का सूर्य की रश्मियों के समान ही नाशक है । अतः परमात्मा विषयों में रही हुई अपनी आनन्दरूपी रश्मियों को खींचकर विषय के प्रति साधक के मन में अनास्था पैदा करा दें, तभी परमात्मा के कल्याणमय शोभनतमरूप का दर्शन जीव कर सकता है, अन्यथा नहीं । परमात्मा का वह रूप केवल आनन्दमय ही नहीं है, किन्तु 'तेजः' अर्थात् ज्ञानस्वरूप भी है । क्योंकि उससे भिन्न माया एवं उसके कार्य सभी जड़ होने से अन्धकारमय हैं । यदि वह परमात्मा चेतनस्वरूप न रहे तो संसार में किसी भी पदार्थ का दर्शन दुर्लभ हो जायेगा । इसलिये उसे तेजोरूप तथा कल्याणतम कहा गया है । लोक में अनुकूल वस्तु को कल्याण प्रद कहते हैं किन्तु किसी भी पदार्थ में अनुकूलता स्थिर नहीं है । अतः संसार का कोई भी पदार्थ जीव के लिये कल्याणतम नहीं हो सकता । तद्विपरीत अन्तरात्मा परमात्मा किसी के लिये कभी भी प्रतिकूल नहीं होता । अत एव वह कल्याणतम स्वरूप है । कौषीतकी उपनिषद् में इन्द्र के अनुरोध से प्रतर्दन ने

---

१. प्रजापतेरपत्यमिति—कस्मात् प्रजाकामो वै प्रजापतिस्तपस्तप्त्वा मिथुनमुदपादयद्रयिं च प्राणं च, आदित्यो ह वै प्राण इत्यादि श्रुतेः । २. व्यूह विगमयेति—ऊहवितर्के इत्यात्मनेपदिनोऽपि धातोरुपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यमित्यात्मनेपदस्य विकल्पनात्पाक्षिकं परस्मैपदम् । उपसर्गवशाच्चार्थान्तरेवृत्तिरिति भावः । समूहेत्यत्राप्येवमेव ।

३. प्रार्थिनयोर्व्यूहनसमूहनयोः प्रयोजनं दर्शयति—यत्त इत्यादिना ।

कल्याणतममत्यन्तशोभनं तत्ते [1]तवाऽऽत्मनः प्रसादात्प[2]श्यामि । [3]किंचाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसावादित्यमण्डलस्थो[4] व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकारत्वात्पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत्समस्तमिति पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि ॥१६॥

व्याहृत्यवयव इति । [5]तस्य भूरिति शिरः भुव इति बाहुः सुवरिति [6]प्रतिष्ठा पादावित्यर्थः ॥१६॥१७॥

यही तो माँगा था कि 'स उवाच प्रतर्दनः त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' (३।३।१) इत्यादि । अतः प्राणी के लिये कल्याणतम पदार्थ परमेश्वर ही है, उसी के साक्षात्कार से अनर्थ संसार की निवृत्ति हो सकती है ।

यहाँ एक प्रश्न होता है, कि ऐसी दशा में साधक यदि परमात्मा को देखता है, तो किस रूप में ? इसका उत्तर श्रुति स्वयं दे रही है, कि जो वह आदित्यमण्डलस्थ 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि व्याहृतरूप अवयव वाला है, वह मैं हूँ और जो यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अज्ञान का साक्षी इस शरीर में दीखता है, वह आदित्यमण्डलस्थ पुरुष ही तो है, क्योंकि संपूर्ण संसार में अथवा संसाररूप पुर में पूर्णरूप से व्याप्त होने के कारण तथा शयन करने के कारण उसे पुरुष कहते हैं । आदित्यमण्डलस्थ एवं शरीरस्थ पुरुषको एक बतलाकर श्रुति साधक के द्वारा यह भी सूचित करा रही है, कि यहाँ पर आवरण हटाने एवं रश्मिसमूह को पृथक् करने और कल्याणतमरूप दर्शन के लिये प्रार्थना जो साधक कर रहा है, वह सब इसे परमात्मा से अभिन्न होने के कारण अधिकारतः प्राप्त है । भृत्य के समान मैं आपसे याचना नहीं करता, किन्तु स्वभावतः अपने कल्याणतमरूप आपको मैं अभिन्न भाव से देखता हूँ, न कि देखूँगा ।

इस मंत्र में 'असौ-असौ' ऐसे दो बार कहा गया है, उसका तात्पर्य द्वित्व व्याप्ति अर्थ में है अर्थात् मैं केवल आदित्य मण्डलस्थ पुरुष ही नहीं हूँ, परन्तु जड-चेतन, चींटी से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी में विद्यमान परमात्मा मेरा स्वरूप है । मैं उससे भिन्न नहीं हूँ । भेदवादियों ने मुझे परमात्मा से भिन्न कहकर भेद का संस्कार सुदृढ़ कर दिया था, वह आज अनात्मा अहंकाररूप आवरण के हट जाने से तथा अहंता-ममतारूप किरणों के दूर हो जाने से मैं अभिन्नरूप से उस परमात्मा का साक्षात्कार कर रहा हूँ ॥१६॥

मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना

समुच्चय-अनुष्ठान करनेवाले को 'हिरण्मयेन पात्रेण' यहाँ से लेकर मार्ग याचना के सभी अंगो का प्रतिदिन अनेक बार स्मरणचिन्तन करना चाहिये, जिससे अन्तकाल में आदित्यरूप आत्मा

---

१. तवाऽऽत्मनः—भवतः । २. पश्यामि—पश्यानीत्यर्थः । ३. अहंग्रहोपासकेनान्तकालेऽपि तथैव वाङ्मनसे व्यापारयितव्ये इति—सूचयन्नाह—कि चाहमित्यादि । अनेन च भेदोपासनं भृत्यवद्याचनं च न देवताप्रसादकरं वेदाऽभिप्रेतमिति ध्वन्यते । ४. द्वितीयस्यासौशब्दस्यार्थमाह—व्याहृत्यवयव इति । ५. मण्डलपुरुषस्य व्याहृत्यवयवत्वं—श्रुति चोदितमेवेति विवक्षन्नपेक्षितान्येव श्रुत्यक्षराणि निक्षिपति—तस्येत्यादिना । तत्रैवं समग्राबृहदारण्यकश्रुतिस्तथाहि—य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एक१७शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे सुवरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेदेति । अत्र देवतामुपनयतीत्युपनिषद्रहस्यं नामाभिधानमनेनाभिधीयमानमेतल्लोकवदभिमुखीभवतीति वृत्तिः । ६. अत्र प्रतिष्ठापदं व्याकरोति—प्रतिष्ठा पादावित्यर्थं इति ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त॑ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृत॑ स्मर क्रतो स्मर कृत॑ स्मर ॥१७॥

[अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक वायु, आधिदैविक वायुरूप) सूत्रात्मा को प्राप्त हो, और यह शरीर भस्मान्त हो जावे। हे मेरे संकल्प विकल्पात्मक मन ! अब तू मेरे स्मरणीय का स्मरण कर, मेरे किये हुए का स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय उपस्थित हो गया है) ॥१७॥]

वायुरिति । अथेदानीं मम मरिष्यतो वायुः प्राणोऽध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः । [1]लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम् । [2]मार्गयाचनसामर्थ्यात् । [3]अथेदं शरीरमग्नौ हुतं [4]भस्मान्तं

का ध्यान करनेवाले का प्राणवायु अध्यात्म-परिच्छेद का परित्याग कर अधिदैव समष्टि प्राण में मिल जावें।

यहाँ पर प्राणवायु से उपलक्षित लिङ्ग शरीर—सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ के सूक्ष्म शरीर से एकीभूत होकर अमृतत्व को प्राप्त होवें एवं स्थूल शरीर भस्मीभूत होकर पृथ्वी में मिल जावें, क्योंकि स्थूल शरीर की अन्तिम गति यही है।

हे संकल्पात्मक प्रधान पुरुष ! तुम परमात्मा का स्मरण करो, तुम अपने द्वारा किये हुये कर्म एवं उपासना का बार-बार स्मरण करो।

इस मन्त्र में 'वायुरनिलममृतम्' इस वाक्य में क्रिया का पाठ नहीं है फिर भी उसका अध्याहार कर लेना चाहिये, अर्थात् उपासना तथा कर्म से संस्कृत यह लिग शरीर अध्यात्म-परिच्छेद का परित्याग कर सूत्रात्मारूप अमृतवायु को प्राप्त करें, क्योंकि मार्ग-याचना का प्रकरण चल रहा है। इस स्थूल शरीर की अग्नि में आहुति कर देने पर भस्मीभूत हो जावें, यहाँ भी क्रिया का अध्याहार करके ही ऐसा अर्थ करना चाहिये।

ओम् यह परमेश्वर का नाम है, क्योंकि 'ओम् इति ब्रह्मनाम' 'ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति-स्मृति में परमात्मा का ओम् नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसकी आलम्बन उपासना तथा प्रतीक उपासना इत्यादि भेद से बहुविध उपासनाएं बतलायी गयी हैं। यहाँ पर प्रतीक रूप से उस अग्निसंज्ञक परमात्मा को ओम् पद से श्रुति बतला रही है, क्योंकि ओम् उसका प्रतीक है। सम्पूर्ण विश्व संकल्प से उत्पन्न हुआ है। यागादि क्रिया भी संकल्प के ऊपर आधारित हैं। इसलिये यज्ञकर्ता एवं महापुरुष परमात्मा दोनों को क्रतु शब्द से कहा गया है। 'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' इस गीता वाक्य के अनुसार अन्तकालीन भावना के अनुरूप ही गति होती है। अतः स्मरणीय पदार्थ का स्मरण करना चाहिये, क्योंकि मृत्यु के समय सद्भावना अत्यन्त आवश्यक है। अतः मैंने बाल्यकाल से जो कुछ भी सत्कर्म किया है, उसे स्मरण कर 'स्मर-स्मर' पौनः पुन्यम् उच्चारण आदरार्थ है ॥१७॥

१. वायुरनिलमित्येतदुपलक्षणीकृत्य निष्कर्षमाह—लिङ्गं चेत्यादिना । २. मार्गयाचनसामर्थ्यादिति—न ह्युत्क्रमणे विवक्षिते मार्गयाचनं घटत इति भावः । ३. इदं शरीरं—स्थूलमित्यर्थः । ४. भस्मान्तमिति—भस्म अन्ते—अन्तिमपरिणामो यस्य तत् । दग्धं भवत्विति यावत् ।

भूयात्। 'ओमिति यथोपासनमोंप्रतीकात्मकत्वात्सत्यात्मदमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते। हे क्रतो संकल्पात्मक स्मर यन्मम स्मर्तव्यं तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मरैतावन्तं कालं भावितं कृतमग्ने स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर। क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मृत्यु के समय उत्तमगति प्राप्ति के लिये जीवात्मा को क्या स्मरण करना चाहिये, यह बतलाया गया है। अब उसकी रीति बतलाते हैं,—एवं अब तक उपास्य देव की प्रार्थना कर रहे थे, अब कर्म के साधनभूत देवता की प्रार्थना करते हैं।

हे अग्निदेव ! आप हमारे सम्पूर्ण ज्ञान तथा कर्मों के जानने वाले हो। अतः हमें अभीष्ट फल प्राप्ति के लिये सुन्दर मार्ग से ले चलो। कुटिल एवं पापमय कर्मों को हम उपासकों से पृथक् कर डालो। इस समय हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं।

अष्टादश मन्त्र से पुनः मार्ग की याचना करता है कि हमें सुन्दर मार्ग से ले चलो। यहाँ पर मार्ग में 'सु' विशेषण दक्षिणायन की निवृत्ति के लिये है, क्योंकि दक्षिण मार्ग से गये हुए को पुनः संसार में आना पड़ता है। अतः वह मार्ग तो गमनागमनरूप है। ऐसे मार्ग से जाते-आते मैं अत्यन्त दुःखी हो गया हूँ। अतः मैं आप से यही चाहता हूँ कि बार-बार गमनागमन से रहित मार्ग द्वारा मुझे अपने कर्म एवं उपासना के फल भोग के लिये ले चलो। हम जैसे कर्म उपासना रूप सत्कर्म से विशिष्ट हैं, उसे हे देव ! आप जानते ही हैं। यदि हमारा कुटिल एवं वञ्चनात्मक कुछ पाप हो, तो उसे हम से पृथक् कर डालो, तभी हम शुद्ध होकर अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकेंगे। एतदर्थ इस समय तो हम आपकी कुछ भी सेवा नहीं कर सकते। इसीलिये केवल बार-बार आपको नमस्कार वचन द्वारा ही कर रहे हैं, क्योंकि अन्य कोई सेवा मरणासन्न हम मुमुक्षुओं से होना सम्भव नहीं है। काण्व शाखा तथा माध्यन्दिनी शाखा दोनों ही का यह अष्टादश मन्त्र है। इस उपनिषद् में आये हुए अष्टादश मन्त्रों की व्याख्या पदशः भाष्यकार ने की, तत्पश्चात् संक्षेपतः विचार करते हैं कि 'अविद्या से मृत्यु को पार कर अव्याकृत की उपासना से अमृतत्व को प्राप्त करता है।' ऐसा सुनकर कुछ लोगों को संशय हो सकता है। अतः उसका उत्थापन कर निराकरण के लिये संक्षिप्त रूप से विचार कर रहे हैं—

अच्छा, यहाँ पर पहले आप बताइये, कि किस निमित्त को लेकर आपको संशय हो रहा है ?

---

१. ओमिति यथोपासनमिति—ओं खं ब्रह्मेति श्रुत्योङ्कारालम्बने खं ब्रह्मेति दृष्टिविधानात्तथोपासने सत्यब्रह्मणः ओम्प्रतीकत्वात्सत्यंब्रह्मैव प्रतीकाभेदेनोमिति सम्बोध्यते। तस्यैव सत्यब्रह्मणः पुनरयमग्निर्वैश्वानरो योयमन्तः पुरुषे इत्यादि श्रुत्वा जाठराग्नित्वेनोपासनोक्तेराह—अग्न्याख्यमिति। २. तदेव सत्यं ब्रह्म संकल्पेन चिरं विषयीकरणान्निगीर्णमिव सत्तदभिन्नात्मतामिवापन्नं तदात्मना सम्बोध्यते। संकल्पवाचिना क्रतुशब्देनेत्याशयेनाह—क्रतो संकल्पात्मकेति। संकल्पाभिन्नेत्यर्थः। क्रतुशब्दो निघण्टौ द्वितीयाध्यायारम्भे "अपः अप्न इत्यादि" कर्मनामसु पठित्वा पुनस्तृतीयाध्याये नवमखण्डे "केतः केतुः चेतः चित्तं क्रतुः असुः धीः शचीः माया वयुनम् अभिख्या इत्येकादश प्रज्ञानामानीत्यत्र प्रज्ञानामसु चित्तपर्यायत्वेन पठ्यत इत्यतस्तस्य संकल्पवाचित्वमिति ध्येयम्। ३. आम्रेडितस्य क्रतो स्मर कृतं स्मरेत्यस्यार्थमाह—अग्ने स्मरेत्यादिना। यज्ञादिपूजितोऽग्निरेव क्रतो इति सम्बोधितः। उपास्यं वा सत्यं ब्रह्म। जुहुराणस्य कुटिलस्यैनसः पापस्याग्ने निरास्यत्वे प्रार्थयिष्यमाणत्वाद्बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितस्य स्मरणमत्राभ्यर्थितमिति ध्येयम्। ४. आदरार्थमिति—यथाभ्यर्थितस्य स्मरणस्यानुपेक्ष्यत्वज्ञापनार्थमिति यावत्।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥
[1]ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्संपूर्णा ॥१॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

[हे अग्नि! हमें अपने कर्म फल भोग के लिये सन्मार्ग से ले चलो, हे देव ! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान और कर्म को जानने वाला है । अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो (अर्थात् नष्ट कर दो) । हम (मुमूर्षु सम्प्रति) तेरे लिये अनेकों नमस्कार मात्रसे परिचर्या करते हैं ॥१८॥]

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—अग्ने नयेति । हेऽग्ने नय गमय सुपथा [2]शोभनेन मार्गेण । सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम् । निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण [3]गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नय । राये धनाय [4]कर्मफलभोगायेत्यर्थः । अस्मान्यथोक्तधर्मफल[5]विशिष्टान्विश्वानि सर्वाणि हे देव [6]वयुनानि कर्माणि

इस पर पूर्व पक्षी कहते हैं, कि विद्या शब्द से मुख्य परमात्म-विषयिणी विद्या एवं अमृत पद से मुख्य निरपेक्ष अमृतत्व का ग्रहण क्यों नहीं किया जावे, क्योंकि मुख्यार्थ के परित्याग में कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये ?

सिद्धान्ती—हम तो पहले ही बतला चुके हैं कि परमात्मविद्या और कर्म का परस्पर विरोध होने के कारण उन दोनों का समुच्चय बन नहीं सकता । अतः ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की अन्यथानुपपत्ति ही विद्या एवं अमृतत्व शब्द के मुख्यार्थ के परित्याग में बीज है ।

पूर्वपक्ष—ठीक है, विरोध आप बतलाते हैं, किन्तु वह प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शास्त्रीय ज्ञान तथा कर्म का विरोध एवं अविरोध शास्त्र से ही समझा जा सकता है । जिस प्रकार अविद्या का अनुष्ठान और विद्या की उपासना शास्त्र प्रमाण से जानी जाती है, वैसे ही उनके विरोध और अविरोध को भी शास्त्र से ही समझा जा सकता है । यथा किसी प्राणी की हिंसा न करें, यह शास्त्र से

१. समाप्तावपि शान्तिपाठस्य सम्प्रदायिकत्वाद्यथोक्तप्रयोजनकत्वाच्च तां पाठयितुं प्रतीकतो विन्यस्यति—ओं पूर्णमद इति ।

२. सुपथेत्यत्र न पूजनादिति समासान्तप्रतिषेधः, इत्याशयेन व्याचष्टे शोभनेनेति । ३. गतागतलक्षणेनेति—अन्यथाऽऽवर्तते पुनरिति स्मृतेरिति भावः । ४. कर्मफलभोगायेति—निष्कामेनाप्यानुषङ्गिकत्वेन भोगस्यावर्जनीयत्वमवगन्तव्यम् । ५. धर्मविशिष्टस्य फलवैशिष्ट्यावश्यंभावनिश्चयादघुनैव तदाह—फलविशिष्टानिति ।

६. निघण्टौ वयुनशब्दस्य प्रज्ञानामसु पठितत्वेऽपि कर्मनामपठित क्रतुशब्दपर्यायत्वात्तदर्थकत्वमपि न विरुध्यत इत्यभिप्रेत्य व्याकरोति—वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वेति । वाशब्दः समुच्चयप्रकरणात्तदर्थः ।

प्रज्ञानानि वा विद्वाञ्जानन्। किं च युयोधि वियोजय विनाशयास्मदस्मत्तो जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकमेनः पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किंतु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्तुं भूयिष्ठां बहुतराम्। ते तुभ्यं नम उक्तिं नमस्कारवचनं [1]विधेम [2]नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुत [3]इति श्रुत्वा केचित्[4]संशयं [5]कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। [6]तत्र तावत्किंनिमित्तः संशय इत्युच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव [7]कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। ननूक्तायाः

मन्त्रान्पदशो व्याख्याय संक्षेपतो विचारमारभते—अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यादिना। अमृतत्वं चेति। अमृतत्वं च मुख्यमेव कस्मान्न गृह्यत इति संबन्धः। शास्त्रीययोर्ज्ञानकर्मणोर्विरोधाविरोधौ

जाना गया। पुनः शास्त्र प्रमाण से ही 'याग में पशु की हिंसा करनी चाहिये' इस विशेष वाक्य से पूर्वोक्त सामान्यतया सम्पूर्ण प्राणीहिंसा की निवृत्ति बतलाने वाला शास्त्र बाधित हो जाता है। ऐसे ही विद्या और अविद्या के विषय में भी समझना चाहिये। अतः विद्या और कर्म का समुच्चय होने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं ?

सिद्धान्ती—परमात्म विद्या एवं कर्म का समुच्चय नहीं बन सकता, क्योंकि श्रुति ने इन दोनों को अत्यन्त विरोधी बतलाया है। कठोपनिषद् में भी विद्या और अविद्या को सर्वथा विपरीत मार्ग कहा गया है। अतः दोनों का सहानुष्ठान कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी—'विद्यांञ्चाविद्यांञ्च' ऐसे वचन होने के कारण यहाँ पर दोनों में कोई विरोध नहीं है, चाहे कठोपनिषद् में विरोध रहा हो। अतः शास्त्र वचन से ही इन दोनों में क्या अविरोध सिद्ध हो रहा है ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनों के कारण स्वरूप एवं फल इन सभी में परस्पर विरोध है।

पूर्वपक्षी—विद्या और अविद्या एवं विरोध और अविरोध का विकल्प होना तो सम्भव नहीं है, और इनके समुच्चय का विधान किया गया है। इसलिये इनका परस्पर विरोध नहीं ही है। क्रिया में विकल्प होता है, उसमें पुरुष करने न करने तथा अन्यथा करने में स्वतन्त्र होता है। 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते जुहोति' इन दोनों वाक्य से सूर्योदय के बाद अथवा उससे पूर्व हवन करने एवं सर्वथा न करने में पुरुष स्वतन्त्र होता है, किन्तु ज्ञान तो पुरुष तन्त्र नहीं है वह तो प्रमाण एवं वस्तु के अधीन

---

१. विधेमेति—कुर्यमित्यर्थः। कुर्म इति यावत्। विध विधाने इत्यनुशासनात्। २. फलितमाह—नमस्कारेण परिचरेमेति। तदुक्तं निघण्टौ "इरज्यति विधेम सपर्यति नमस्यति दवस्यति ऋध्नोति ऋणद्धि ऋच्छति सपति विवासति" इति दशपरिचरणकर्माण इति। ३. इति श्रुत्वेति—इत्यस्यार्थमस्मद्भाषितमाकर्ण्येत्यर्थः। ४. संशयम्—किमत्र तत्त्वज्ञानं विद्याशब्दार्थोऽन्यद्वेति रूपम्। ५. कुर्वन्ति—करिष्यन्ति। ६. ननु व्याख्यानस्य निर्णयार्थत्वात्कुतः संशय इत्याशङ्क्य समाधत्ते—तत्र तावदित्यादिना। ७. कस्मान्न गृह्यत इति—मुख्यत्यागे हेत्वदर्शनात्संशय इति भावः। ८. अमृतत्वं चेति—अत्रापि मुख्यमापेक्षिकं वेति संशयाकारो द्रष्टव्यः। यद्वा संशयं कुर्वन्तीत्यत्र आक्षेप एव संशयशब्दार्थः। किंनिमित्त इत्यस्य किमाकारक इत्यर्थः। विद्याशब्देनेत्यादिराकारोक्तिरिति व्याख्येयम्।

परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः। सत्यम्। विरोधस्तु नावगम्यते विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात्। यथाऽविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि। [1]यथा च न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यतेऽध्वरे पशुं हिंस्यादिति। [2]एवं विद्याविद्ययोरपि स्यात्। [3]विद्याकर्मणोश्च समुच्चयो न दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति-श्रुतेः। विद्यां चाविद्यां चेतिवचनादविरोध इति चेन्न। [4]हेतुस्वरूपफलविरोधात्। विद्याविद्या[5]विरोधाविरोधयो[6]विकल्पासंभवात्[7]समुच्चयविधानादविरोध एवेति चेन्न। सहसंभवानुपपत्तेः। क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति

शास्त्रीयावेव ग्राह्यौ न तर्कमात्रेणेति परेणोक्ते सिद्धान्ती शास्त्रसिद्ध एव विरोध इत्याह—न दूरमेते इति। विषूची [8]नानागती विद्याविद्ये दूरं विपरीते अतिशयेन विरुद्धे इत्यर्थः। सहसंभवानुपपत्तेरिति। [9]काऽनुपपत्तिः। [10]काठके विरोधश्रवणात्। [11]तद्गतविद्याविद्ययोर्विरोधोऽस्तु। [12]इह त्वविरोधश्रवणादविरोधो भविष्यतीति [13]न च वाच्यम्। विरोधाविरोधयोः [14]सिद्धत्वेन विकल्पासंभवादुदितानुदितहोमयोर्हि पुरुषतन्त्रत्वाद्युक्तो विकल्प [15]इत्युक्तं, तर्ह्यविरोध एवास्तु समुच्चयविधिबलादिति चेन्न। मुख्यब्रह्मविद्याविद्ययोः शुक्तिविद्याविद्ययोरिव सहसंभवानुपपत्तेः समुच्चयविधिरसिद्धः। (सिद्धे समुच्चयविधौ तद्बलादविरोधावगमोऽविरोधावगमाच्च समुच्चयसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः)। सहसंभवानुपपत्तावपि क्रमेणैकाश्रये विद्याविद्ये स्यातामिति चेद्यदि पूर्वमविद्या पश्चात्तु विद्येति क्रमस्तर्ह्यिष्यत एव

---

१. यथाचेत्यादि—यथाऽन्यत्र हिंसाया न हिंस्यादिति शास्त्रोक्ताऽहिंसया विरोधो हिंसायास्तत्राशास्त्रीयत्वात्। अध्वरे तु न विरोधः हिंसायाऽपि शास्त्रीयत्वात्। अध्वरे हिंसायां स्वरूपतो हिंसात्वेऽपि पापाजनकत्वेनाहिंसात्वात्। हिंसात्वाहिंसात्वयोः सहवर्तनात्। तथा च शास्त्रीयाशास्त्रीययोरेव विरोधो न तु द्वयोरपि शास्त्रीययोरिति भावः। २. एवं विद्याविद्ययोरपि स्यादिति—विद्याविद्ययोः सहानुष्ठानस्य शास्त्रेणैव विहितत्वादन्यतरस्याशास्त्रीयत्वाभावेनाविरोधः स्यादित्यर्थः। ३. एवमविरोधे सति सिद्धमभीष्टं पूर्वपक्षी स्पष्टयति—विद्याकर्मणोश्च समुच्चय इति। अत्र चकारस्य तथा च सतीत्यर्थः। ४. हेतुस्वरूपफलविरोधादिति—तत्रात्मनि कर्तृत्वाद्यध्यासोत्थितवादिकञ्चाविद्याया हेतुः। विवेकादिपूर्वामुमुक्षा तु विद्याहेतुरिति हेतुविरोधः। वाक्यजन्यस्तत्त्वावगाहीन्द्रियान्तरचेष्टानिर्व्यपेक्षो मानसपरिणामविशेषो विद्यास्वरूपम्। सर्वेन्द्रियक्रियौघस्त्वविद्यास्वरूपमिति स्वरूपविरोधः। नित्यं सुखं विद्याफलमनित्यमविद्याफलमिति फलविरोधस्तस्मादित्यर्थः। ज्ञापकं हि वचनं न तु कारकं येन विरुद्धमपि हेत्वादिकमविरुद्धं कुर्यात्। अस्मदर्पितार्थेनैव वचनस्य निराकाङ्क्षतया त्वदभीष्टार्थानापादकत्वादिति भावः। ५. विरोधाविरोधयोरिति—दूरमेते विपरीते इत्यादि विद्याञ्चाविद्यां चेत्यादिश्रुतिभ्यामवगम्यमानयोरित्यर्थः। ६. विकल्पासंभवादिति—विकल्पस्य साध्यैकगोचरत्वाद्विरोधाविरोधयोश्च सिद्धत्वेन पुंस्प्रयत्नासाध्यत्वादिति भावः। ७. समुच्चयविधानादिति—विद्याञ्चाविद्यां चेत्यादेर्विधित्वाद्दूरमेते इत्यादेस्तु श्रेयसस्तत्कामस्य च प्रशंसाप्रसङ्गेनोच्यमानतयाऽर्थवादत्वाद्वेदे च विध्यविध्योर्विधेरेव बलीयस्त्वनियमादर्थवादस्य तदनुकूलत्वेनैव नेयतया समुच्चयानर्हं वैपरीत्यबोधकत्वाकल्पनादविरोधो निर्विरोध इति भावः। ८. नानागती—विभिन्नफलिके। ९. व्यवस्थितविकल्पोऽत्रावकल्पत इति संकल्प्याऽऽक्षेप्ताऽऽह—काऽनुपपत्तिरिति। १०. विकल्पं व्यवस्थापयति—काठक इत्यादिना। दूरमेते इत्यादौ काठक इत्यर्थः। ११. तद्गतेति—तदा काठकपरामर्शः। १२. इहेति—वाजसनेयोक्तिः। १३. समाधाताऽऽह—इति न च वाच्यमित्यादि।
१४. सिद्धत्वेनेति—तमःप्रकाशादौ तयोः सिद्धत्वदर्शनादिति भावः। १५. इत्युक्तम्—पूर्वतन्त्र उक्तमित्यर्थः।

चेन्न । विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः । न ह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाऽऽश्रये शीतोऽग्निरप्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा । यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति शोकमोहाद्यसंभवश्रुतेः । अविद्याऽसंभवा-

---

यदि पश्चात्तर्ह्यसंभव इत्याह—न विद्योत्पत्ताविति । पूर्वसिद्धाया अविद्यायाः प्रध्वस्तत्वादन्यस्याश्चोत्पत्तौ कारणासंभवान्मूलाभावेन भ्रमसंशयाग्रहणानामपि विदुषोऽनुपपत्तिरित्यर्थः । विद्योत्पत्तौ मा भूदविद्या कर्म तु भविष्यति विदुषोऽपि व्याख्यानभिक्षाटनादिदर्शनादित्याशङ्कयाऽऽह—अविद्यासंभवादिति ।

है । शास्त्र प्रमाण से दोनों का समुच्चय विधान किया गया है, इसलिये विद्या और कर्म में विरोध मानना उचित नहीं है ।सिद्धान्ती—इन दोनों का एक साथ रहना सर्वथा असम्भव है । पूर्वपक्षी—यदि एक साथ एक ही व्यक्ति में विद्या और अविद्या दोनों नहीं रह सकती, तो क्रमशः एक व्यक्ति दोनों का अनुष्ठान कर लेगा । इस प्रकार सह समुच्चय न सही, क्रम समुच्चय तो होगा ही ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर अविद्या का नाश हो जाता है । पुनः उस अन्तःकरण में अविद्या नहीं रह सकती । क्या जिस व्यक्ति को वह्नि, उष्ण एवं प्रकाश स्वरूप है, ऐसा ज्ञान हो गया, तो उस व्यक्ति के हृदय में वह्नि शीतल, तथा अप्रकाशस्वरूप है, ऐसी अविद्या उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् नहीं । विशेष क्या कहें—उसे तो वह्नि की उष्णता एवं प्रकाशस्वरूपता के विषय में सन्देह अथवा भ्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति ज्ञानी के लिये स्पष्ट कहती है कि "जिस पुरुष को सम्पूर्ण भूत आत्मा ही है, ऐसा ज्ञान हो गया, उस अभेददर्शी में क्या शोक और क्या मोह ?" ऐसे वाक्य से तत्त्वज्ञानी में शोक-मोहादि सम्पूर्ण अविद्या-कार्य को श्रुति असम्भव बतला रही है । जब उस तत्त्ववेत्ता में अविद्या का रहना ही असम्भव है, तो भला अविद्या के कार्य कर्म की सिद्धी कैसी हो सकेगी ? इत्यादि वाक्य को हम पहले कह आये हैं । बिना कामना के किसी भी व्यक्ति द्वारा कोई कार्य हो नहीं सकता है । जीव जो कुछ भी चेष्टा करता है वह कामनापूर्वक ही करता है ऐसा 'अकामिनः क्रिया काचित् दृश्यते नेह कस्यचित् । यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इस स्मृति वाक्य से कहा गया है । विद्वानों की शरीर यात्रा के लिए अविद्या लेश को सिद्धान्त में माना गया । ऐसी लेशाविद्या से तो भिक्षाटनादि मात्र ही कर्म उनसे हो सकते हैं, इनके लिए शास्त्रविधि की आवश्यकता नहीं है । यह तो स्वतः प्राण और शरीर के सम्बन्ध रहने तक होता ही रहता है । अतः इसे कर्माभास कहा गया है । विद्वान् उसे अपने आप में मानता भी नहीं है, क्योंकि आत्मा में कर्तृत्वाध्यास का कारण मूलाज्ञान उसमें है नहीं, साथ ही ब्रह्मात्मैक्य स्थिति में रहने के कारण 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' ऐसी दृढ़ प्रतीति उसे सदा बनी रहती है । इसलिए तत्त्वज्ञानी में कर्म-की असिद्धि बतलायी गयी है ।

आपने कहा था मन्त्रोक्त अमृत शब्द से मुख्य अमृतत्व अर्थ क्यों नहीं किया जाता एवं विद्या शब्द से परमात्मविद्या अर्थ क्यों नहीं किया जाता ? इसका उत्तर यह है कि यदि विद्या शब्द से परमात्मविद्या का ग्रहण किया जाय एवं अमृत शब्द का अर्थ मुख्य अमृतत्व किया जाय तो 'हिरण्मयेन पात्रेन' इत्यादि मन्त्र से मार्गादि की याचना असंगत हो जायेगी । अतः उपासना के साथ ही कर्म का

---

१. अविद्यायाः=भ्रमस्य । २. दृष्टान्तनिर्दिष्टं दार्ष्टान्तिके स्पष्टयति—यस्मिन्निति ।

तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्ति[1]मवोचाम । अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकममृतं विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात्तस्मादुपासनया

---

[2]चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानं हि कर्म ज्ञानेन सह तव समुच्चिचीषितं ब्रह्मात्मैकत्वं तु साक्षादनुभवतो न चोदना संभवति कामाभावात्कामिनो हि सर्वाश्चोदनाः । 'अकामिनः क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कस्य चित् । यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' इति स्मरणात् । विद्वच्छरीरस्थितिहेत्वविद्यालेशाश्रयकर्मशेषनिमित्तं तु विदुषो भिक्षाटनादि, न कर्म चोदनाभावात्किंतु यावत्प्राणशरीरसंयोगभावि तत्कर्माभासं तच्च विद्वान्न स्वगतं मन्यते कर्माध्यासोपादानाविद्याया असंभवान्नैव किंचित्करोमीति प्रत्ययाच्चेति भावः । यदुक्तममृतशब्देन मुख्यमेवामृतत्वं किं न गृह्यते । विद्याशब्देन च परमात्मविद्येति तत्राऽऽह–अमृतमिति । मुख्यामृतत्वग्रहणे हिरण्मयादिमन्त्रेण द्वारमार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात् । न [3]तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्र ब्रह्म समश्नुत इत्यादिश्रुतेः । ततो मुख्यार्थबाधाद्गौणार्थग्रहणं युक्तमित्यर्थः । यस्मादर्थान्तरं न संगच्छते तस्मादित्युपसंहारः ॥१८॥

समुच्चय हो सकता है, परमात्मविद्या के साथ नहीं । इस प्रकार की व्याख्या हमने यथोक्त मन्त्रों के व्याख्यान के समय की है। तत्त्वज्ञानी के लिये तो कहा है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्र ब्रह्म समश्नुते' अर्थात् तत्त्वज्ञानी के शरीर से प्राण शरीरान्तर के लिये उत्क्रमण नहीं करते । लोकदृष्टि से समष्टि में मिल जाते हैं । और वह तत्त्ववेत्ता वहाँ ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । इस प्रकार मुख्य अर्थ का बाध हो जाने से गौण अर्थ का ग्रहण करना उचित ही है। अतएव विद्या शब्द से देवोपासना एवं

---

१. अवोचाम—आरम्भभाष्यादौ तत्र तत्र बहुशोऽवादिष्मेत्यर्थः ।

२. चोदना प्रयुक्तानुष्ठानमिति—चोदनया वैदिकेन विधिवाक्येन प्रयुक्तं विहितमनुष्ठानं करणं यस्य तत्तथा ।

३. तस्य—निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारवतो विदुष इत्यर्थः ।

समुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाऽस्माभिर्व्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥ १८ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशंकरभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

ईशाप्रभृतिभाष्यस्य [1]शांकरस्य [2]परात्मनः ।
मन्दोपकृतिसिद्ध्यर्थं प्रणीतं टिप्पणं स्फुटम् ॥
इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृता
वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यटीका समाप्ता ॥
॥ ॐ तत्सत् ॥

अमृत शब्द से आपेक्षिक अमृतत्व अर्थ लिया जाना ही ठीक है ।

इस प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् की श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचित

शाङ्करभाष्य की श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यकैलासपीठाधीश्वर
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्दगिरि
कृत भाष्यार्थदीपिका नामक हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।
। श्रीशङ्करः प्रीयताम् ।

---

१. शांकरस्य—शंकरप्रोक्तस्येत्यर्थः । शंकरस्येति तु सुगमः पाठः । सा कर्तरि षष्ठी ।
२. परात्मन इति—परम् आत्मा यस्मिस्तस्येति विग्रहः । परं ब्रह्म आत्मभिन्नत्वेन भासमानं वा सर्वमात्मत्वेन प्रतिपादितं यस्मिन्निति यावत् । पर उत्कृष्ट आत्मा स्वरूपं यस्येति वा भाष्यान्तरातिशायिन इत्यर्थः । भूत भविष्यद्व्याख्यानान्तरैरस्पर्धनीयस्येति यावत् ।

गुरोरधीत्य विधिवत् कृतमात्मविशुद्धये ।
आनन्दविष्णुदेवेन गिरिणाऽत्र सुटिप्पणम् ॥

इति श्रीशाङ्करभाष्योपेतेशावास्योपनिषदः
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पति-
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता
गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीसमाप्तिङ्गता

❀❀❀❀